'देहाती दुनिया' का समाजशास्त्रीय अध्ययन

(एम0 फिल0 उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशक :
प्रो० केदारनाथ सिंह

शोधछात्र :
चन्द्रकान्त प्रसाद सिंह

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली-110067
1991

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

दिनांक :

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री चन्द्रकान्त प्रसाद सिंह द्वारा प्रस्तुत लघु शोध प्रबन्ध "देहाती दुनिया" का समाजशास्त्रीय अध्ययन" में प्रस्तुत सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य किसी विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिए उपयोग नहीं किया गया है । यह सर्वथा मौलिक है ।

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

प्रो॰ केदारनाथ सिंह
शोध-निर्देशक
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान

1991

GRAM : JAYENU TEL. : 667676, 667557 TELEX : 031-73167 JNU IN

प्रस्तावना

प्रस्तावना

आचार्य शिवपूजन सहाय को एक संपादक के रूप में ही प्रसिद्धि मिली है । उनका कथाकार व्यक्तित्व अब तक उपेक्षित रहा है । मेरे जानते श्री सहाय के रचनाकर्म के इस पक्ष पर सिर्फ एक लघु शोध-प्रबंध लिखा गया है जिसमें उनकी कहानियों और एकमात्र उपन्यास 'देहाती दुनिया'(1926) को ऐतिहासिक संदर्भ में परखा गया है ।

'देहाती दुनिया' पर अलग से कोई शोध कार्य नहीं हुआ है । यह उपन्यास कथानक में नायक की रूढ़ि को तोड़ते हुए स्थानीय भाषा का उसकी विभिन्न भंगिमाओं, ध्वनियों और अर्थछवियों में उपयोग करता है तथा अंचल की पूरी आबादी ही कथ्य बन जाती है । इस लिहाज से इसका समाजशास्त्रीय अध्ययन अपेक्षित है । वे कौन-सी सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियाँ थी जिनसे रचनाकार को एक सर्वथा नवीन कथ्य चुनने के लिए प्रेरित किया ।

साहित्य और समाज में संबंध की स्वीकृति का अंदाजा तो 'साहित्य समाज का दर्पण है' उक्ति की लोकप्रियता से लगाया जा सकता है । लेकिन साहित्य के समाजशास्त्र का एक स्वतंत्र विधा के रूप में पूरी तरह विकसित और स्वीकृत होना अभी बाकी है ।

इसलिए इस लघु शोध-प्रबंध के पहले अध्याय में साहित्य और समाज के संबंध की विभिन्न दृष्टियों को समझने का प्रयास किया गया है । इसके तहत साहित्य में अभिव्यक्त समाज, सामाजिक यथार्थ की पुनर्रचना में लेखकीय दृष्टि का महत्व, समाज में साहित्यकार की स्थिति और रचना

की चेतना के विकास में पाठक की भूमिका को समझने का प्रयास किया गया है । साथ ही 'देहाती दुनिया' के प्रकाशन का पाठकों और रचनाकारों पर पड़ने वाले संभावित प्रभावों पर विचार किया गया है ।

पहले अध्याय में विकसित दृष्टि और समाजशास्त्रीय अध्ययन की पद्धति के आधार पर दूसरे अध्याय में यह जानने का प्रयास किया गया है कि 'देहाती दुनिया' में व्यक्त समाज का स्वरूप क्या है ? वह कितना दस्तावेजी और कितना पुनर्रचित है ?

तीसरे अध्याय में लेखकीय दृष्टि, इस उपन्यास में व्यक्त समाज और तत्कालीन पाठकों की मानसिकता के अंतर्संबंधों को समझने की कोशिश भी की गई है । पाठकीय चेतना की 'देहाती दुनिया' के कथ्य और शिल्प चयन में भूमिका को सामने लाने का प्रयास किया गया है ।

चौथे अध्याय में आंचलिक उपन्यासों के सामाजिक संदर्भ को परखते हुए इस बात पर भी विचार किया गया है कि 'देहाती दुनिया' एक आंचलिक उपन्यास है या नहीं ।

पांचवें अध्याय में इस उपन्यास की शिल्पगत विशेषता और भाषिक संरचना को कथ्य के संदर्भ में देखा गया है ।

अंतिम अध्याय में इस लघु शोध-प्रबंध के निष्कर्षों की संक्षिप्त चर्चा की गई है ।

इस शोध कार्य में शीर्षक चयन से लेकर लेखन तक मुझे अपने शोध निर्देशक गुरुवर प्रो॰ केदारनाथ सिंह का भरपूर सहयोग और स्नेह मिला । उन्होंने हमेशा मेरा उत्साहवर्द्धन किया जिसके बिना यह शोध असंभव था । इसके लिए आभार प्रकट करना काफी नहीं है ।

'साहित्य के समाजशास्त्र' पर मान्यवर प्रो॰ नामवर सिंह के व्याख्यानों और सेमिनार में हुई चर्चाओं ने इस दिशा में मेरी रुचि जगाई । एक छात्र के रूप में इसकी याद मेरे लिए थाती है ।

मेरे दोस्तों — ज्ञानेश्वर, कुमार सुरेश, विनोद और गणेश दत्त ने महत्वपूर्ण पुस्तकें उपलब्ध कराने के अलावा शोध संबंधी कई बहुमूल्य सुझाव दिए और लेखन के दरम्यान मुझे बाकी चिंताओं से मुक्त रखा । ये सब मेरे धन्यवाद के पात्र हैं ।

अंत में मैं नवभारत टाइम्स, पटना के स्थानीय संपादक अरुण रंजन का आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अपनी तमाम व्यवस्तताओं के बावजूद मुझे समय दिया और मेरा उत्साहवर्द्धन किया ।

चंद्रकांत प्र॰ सिंह

अनुक्रम

			पृष्ठ संख्या
प्रस्तावना		...	I - III
पहला अध्याय	:	साहित्य और समाज के संबंध की दृष्टियां 1. साहित्य में समाज की खोज 2. समाज में साहित्य और साहित्यकार की स्थिति 3. पाठकीय अभिग्रहण 4. "देहाती दुनिया" का प्रकाशन और उसका प्रभाव	1 - 20
दूसरा अध्याय	:	"देहाती दुनियां" में सामाजिक यथार्थ ।	21 - 33
तीसरा अध्याय	:	"देहाती दुनियां" के रचनाकार की दृष्टि, पाठकीय रूचि और सामाजिक यथार्थ में अंत:संबंध ।	34 - 42
चौथा अध्याय	:	क्या "देहाती दुनियां" एक आंचलिक उपन्यास है ?	43 - 54
पांचवां अध्याय	:	"देहाती दुनियां" का शिल्प और भाषिक संरचना ।	55 - 61
उपसंहार		...	62 - 65
सहायक ग्रंथों की सूची		...	66 - 74

अध्याय - एक

साहित्य और समाज के संबंध की दृष्टियां

अध्याय - एक

साहित्य और समाज के संबंध की दृष्टियां

साहित्य-रचना में समाज की भूमिका की स्वीकृति किसी-न-किसी रूप में बहुत पहले से ही की जाती रही है, लेकिन साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन काफी बाद की बात है ।

साहित्य के समाजशास्त्र का आधार यह मान्यता है कि साहित्य का मुख्य सरोकार मनुष्य का सामाजिक जगत होता है और लेखक का सामाजिक व्यवहार उसके कथानक और पात्रों के चयन में प्रतीक और अलंकार आदि के माध्यम से व्यक्त होता है ।[1]

साहित्य का वास्ता काफी हद तक उन्हीं सामाजिक और आर्थिक तथा राजनीतिक संरचनाओं से पड़ता है जिनसे समाजशास्त्र का ।

---

1. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन (सं.) - भूमिका, पृ.-7, 1986.

लेकिन कलात्मक रचना के रूप में साहित्य वस्तुगत के विश्लेषण से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन की गहराई में प्रवेश करता है । साहित्य में भाव के स्तर पर अनुभूत स्थितियों का वस्तु-स्तर पर उद्घाटन होता है ।

साहित्य की समझ के लिए जिस प्रकार समाज की समझ जरूरी है उसी प्रकार "पूरे साहित्यिक प्रमाण के अभाव में, समाजशास्त्र का विद्यार्थी समाज की पूर्णता से बेखबर रहेगा ।"[1]

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन में मुख्यत: तीन दृष्टियां सक्रिय हैं - §1§ साहित्य में समाज की खोज; §2§ समाज में साहित्य और साहित्यकार की स्थिति का विवेचन; और §3§ साहित्य तथा पाठकीय अभिग्रहण ।

1. साहित्य में समाज की खोज

साहित्य के समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज से साहित्य के संबंध की व्याख्या के दो प्रकार हैं । एक वे हैं जो समाज को समझने के लिए साहित्य का उपयोग करते हैं जबकि दूसरे साहित्य को समझने के लिए शुद्ध समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाते हैं । खालिस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण रखने वाले अच्छे-बुरे, सतही और गंभीर साहित्य में अंतर नहीं करते । वे

---

1. स्पीकिंग टू इच अदर - रिचर्ड होगार्ट, पृ.-20, 1973.

महान साहित्य और लोकप्रिय साहित्य को समान महत्व देते हैं ।[1] वैसे महान साहित्य लोकप्रिय भी हो सकता है । जैसे तुलसी और सूर साहित्य । लोकप्रिय साहित्य का यहाँ अर्थ है मनोरंजन के लिए व्यापक रूप से विभिन्न वर्गों में प्रचलित साहित्य । जैसे गुलशन नंदा और प्रेम वाजपेयी के उपन्यास ।

दूसरी तरफ वैसे लोग हैं जो साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट रूप की उपेक्षा नहीं करते । वे अन्य बातों के अलावा यह समझने की कोशिश करते हैं कि साहित्य-सृजन में समाज की क्या भूमिका होती है और रचना की जड़ें समाज में कितनी गहरी हैं । रचना पर युग की प्रभावशाली विचारधारा का प्रभाव कैसा है और कृति के अन्तर्वस्तु और रूप को उसने कहाँ तक प्रभावित किया है । यह सही है कि साहित्यिक कृति एक सामाजिक उत्पादन है, लेकिन इस बात से भी इनकार नहीं हो सकता कि साहित्य की रचना व्यक्ति करता है । इसलिए समाज से साहित्य के संबंध को समझने के लिए रचनाकार के समाज से सबंध की समझ भी आवश्यक है ।

उन्नीसवीं सदी प्रचलित साहित्यिक समाजशास्त्रीय चिंतन समाज को साहित्य की उत्पत्ति और उसके रूप का नियामक मानते हुए साहित्य को

---

1. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन - सं. प्रो. निर्मला जैन, पृ.-8.

समाज के दर्पण के रूप में देखता था । यह विधेयवाद से प्रभावित था जिसके तहत साहित्य और समाज के बीच कार्य-कारण संबंध को मान्यता थी । हिंदी के द्विवेदी युग में यह दृष्टिकोण खूब प्रचलित था ।

द्विवेदी जी ने साहित्य को जातीय जीवन का प्रतिबिंब बताते हुए लिखा कि, "जाति विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके ऊंच-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसकी ऐतिहासिक घटनाओं और राजनीतिक स्थितियों का प्रतिबिंब यदि कहीं देखने को मिल सकता है तो उसके ग्रंथ साहित्य में ।"

'दर्पण-बिंब' वाला दृष्टिकोण साहित्य को दस्तावेज के रूप में देखता है । इसके अनुसार सामाजिक संरचना के विभिन्न पक्षों, संबंधों, प्रवृत्तियों यानी कि समाज की पूरी बनावट का साहित्य में सीधा प्रतिबिंबन होता है । इसमें साहित्य को सूचनाओं के संग्रह के रूप में देखने का खतरा रहता है । लेकिन लेखक समाज का सीधे-सीधे वर्णनात्मक भाषा में चित्रण करने में कभी प्रवृत्त नहीं होता[1] । वह सामाजिक यथार्थ की पुनर्रचना करता है यानी कि सामाजिक यथार्थ का चयन करता है । यह चयन उसके दृष्टिकोण और मूल्यों से निर्धारित होता है । इन मूल्यों की प्रकृति को ही रेमंड विलियम्स ने 'भाव की संरचना' कहा है ।

साहित्य को आचार्य शुक्ल जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब कहते हैं । यानी कि 'चित्तवृत्ति' साहित्य में प्रतिबिंबित होती है, सीधे समाज नहीं । प्रतिबिंब भी संचित है — छना हुआ, चुना हुआ और सोचा

---

1. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन (सं), पृष्ठ (vii), 1986

हुआ है[1]। इस तरह आचार्य शुक्ल साहित्य और समाज के बीच सीधे कार्य-कारण संबंध नहीं मानते।

आचार्य शुक्ल के अनुसार जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों के अनुसार होती है। इससे स्पष्ट है कि कुछ-कुछ ऐसा भी है जो परंपरा से प्राप्त होता है या सामाजिक स्थितियों से स्वायत्त होता है। यहाँ लेखक की कल्पना और प्रतिभा के लिए पूरी जगह है।

बिंबवादी दृष्टिकोण इस बात को अनदेखा कर जाता है कि रचना की अंतवर्स्तु में ही समाज नहीं होता, वह उसके शिल्प में भी होता है। अभिव्यक्ति केवल प्रस्तुतीकरण नहीं है। वह प्रातिनिधिक ही नहीं, प्रतीकात्मक भी हो सकती है।

अब ज्यादातर साहित्यिक समाजशास्त्री इस पर एकमत है कि रचना के हर स्तर पर अर्थात् उसकी अंतर्वस्तु, शिल्प, भाषा और संरचना में समाज की अभिव्यक्ति होती है। इसके लिए लावेंथल ने "अर्थ के मर्म" के विवेचन पर बल दिया है तो गोल्डमान ने "विश्व दृष्टि" के विश्लेषण पर। अडोर्नो "अंतवर्स्तु के सत्य" का बोध आवश्यक मानते है तो रेमंड विलियम्स अनुभूति की संरचनाओं की पहचान को[2]।

अर्थ के मर्म से लावेंथल का आशय रचना की अर्थवत्ता और सार्थकता की एकता है। दूसरी तरफ विश्वदृष्टि की संरचनाओं के द्वारा गोल्डमान

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचंद्र शुक्ल, 1981, पृष्ठ-1
2. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - डा. मैनेजर पांडेय, पृष्ठ-15, 1989

रचना के मूल सामाजिक वर्ग, लेखक की सामाजिक चेतना और रचना की संरचना को जोड़ते है। रेमंड विलियम्स कृति में स्थापित मूल्यों के ऐतिहासिक आधार और उसके बदलते रूपों को अधिक महत्व देते है। कुल मिलाकर ये सभी साहित्यिक समाजशास्त्री साहित्यिकता और सामाजिकता की एकता को स्वीकारते है।

यहां इस बात पर विचार आवश्यक है कि रचनाकार कभी-कभी युग की प्रवृत्तियों से प्रभावित होते हुए भी सचेत रूप से उन्हें ग्रहण नहीं करता। इसका कारण उसकी दृष्टि और यथार्थ की प्रस्तुती में विरोध नजर आता है।

इसी को एंगेल्स ने कहा है कि कभी-कभी विचारधारा के बावजूद यथार्थ रचना में प्रकट हो जाता है। इसकी पुष्टि में उन्होंने बालजाक के उपन्यासों का उदाहरण दिया। बालजाक राजशाही का समर्थक था लेकिन उसके उपन्यासों में टूटते हुए सामंती वर्ग का बड़ा ही यथार्थवादी और मार्मिक चित्रण हुआ है।

साहित्य में समाज की खोज का एक महत्वपूर्ण पक्ष है — साहित्यिक कल्पना के सामाजिक अभिप्राय की पहचान। साहित्य रचना का समूचा व्यवहार कल्पना का व्यापार है। कल्पना की मदद से ही जीवन-जगत का बोध, यथार्थ की चेतना, चरित्रों का निर्माण, भावों-विचारों की व्यंजना के तरीकों की खोज आदि संभव हो पाते है। लावेंथल के अनुसार "यह साहित्य के समाजशास्त्री की जिम्मेदारी है कि वह लेखक के काल्पनिक पात्रों की स्थितियों का संबंध उस ऐतिहासिक वातावरण से जोड़ें जिससे वे लिए गए है।"[1]

---

1. द आर्ट आफ द नैरेटिव एंड सोसाइटी - एल. लावेंथल, पृष्ठ-10, 1971

साहित्य की विभिन्न विधाओं की कथा, एक ही विधा की विभिन्न पद्धतियों में कल्पना की क्रियाशीलता समान नहीं होती । यथार्थवादी उपन्यास और मनोवैज्ञानिक उपन्यास में लेखकीय अनुभव की अभिव्यक्ति में कल्पना की मदद से ही पहले दूसरों के अनुभव जगत में प्रवेश करता है और बाद में कृति के माध्यम से पाठक के अनुभव से संगति पैदा करता है । कल्पना के माध्यम से रचनाकार कई बार एक वैकल्पिक व्यवस्था की तस्वीर पेश करते हुए वास्तविक व्यवस्था का विरोध भी करता है । साहित्य के समाजशास्त्र में साहित्य के ज्ञानात्मक पक्ष के विवेचन के लिए कल्पना की इन बहुस्तरीय क्रियाओं की समझ महत्वपूर्ण है । रिचर्ड होगार्ट ने साहित्यिक कल्पना से समाजशास्त्रीय कल्पना के संबंध का विवेचन किया है[1] ।

साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति और उसके स्वरूप के बारे में मुक्तिबोध मानते हैं कि साहित्यकार अपनी विधायी कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना करता है । यह पुनर्रचित जीवन जिए और भोगे हुए जीवन से सारत: एक होते हुए भी स्वरूपत: भिन्न होता है[2] ।

मुक्तिबोध ने रचना में समाज की अभिव्यक्ति की पहचान के लिए रचनाकार के दृष्टिकोण और शिल्प के महत्व पर विचार करते हुए लिखा है कि प्राय: दृष्टि और शिल्प में एकता होती है, लेकिन कभी-कभी दोनों में अंतर भी होता है । उन्होंने माना कि कई बार यथार्थवादी शिल्प के भीतर रोमैंटिक दृष्टिकोण और रोमैंटिक शिल्प के भीतर यथार्थवादी दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है ।

---

1. स्पीकिंग टू इच अदर - होगार्ट, पृष्ठ-20
2. कामायनी : एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध, 1973, पृष्ठ-4

साहित्यिक कृति के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए इस अंतर की पहचान आवश्यक है । प्रेमचंद का कथा साहित्य आरंभ से अंत तक शिल्प की दृष्टि से यथार्थवादी है लेकिन आरंभिक रचनाओं में यथार्थवादी शिल्प के अन्तर्गत भाववादी दृष्टि की अभिव्यक्ति हुई है ।

'कामायनी' को उसके रचयिता जयशंकर प्रसाद के युग के भारतीय समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया के भीतर रखकर मुक्तिबोध ने उसमें व्यक्त यथार्थबोध और विचारधारा को खोजने का प्रयास किया है । उनके अनुसार 'कामायनी' एक विशाल फैंटेसी है जिसमें सामंतवाद के ध्वंश से नए व्यक्तिवाद के जन्म और पूंजीवाद के रुग्ण बालक के बाधाग्रस्त विकास की चिंताओं तथा पूंजीवाद की संपूर्ण ह्रासग्रस्त अवस्था को प्रतीकात्मक पद्धति से गूंथ दिया गया है[1] ।

सभ्यता के विकास के साथ निरंतर जटिल होते समाज और मानव स्वभाव को समझने के लिए समाजशास्त्रीय कल्पना की जरूरत बढ़ती जा रही है । यह कल्पना मानस की ऐसी शक्ति है जो नितांत निर्वैयक्तिक परिवर्तनों से लेकर मानव मन की अत्यंत निजी विशेषताओं तक पहुंचती है और दोनों के संबंध को उद्घाटित करती है[2] ।

जिसे हम रचनाकार की कल्पना या अंतर्दृष्टि कहते हैं वह उसकी समझ का ही पर्याय है । एक बड़े रचनाकार और समाजशास्त्री की सामाजिक अंतर्दृष्टियों में दूर तक समानता होती है । दोनों समाज से सार्थक तथ्यों और ब्यौरों का चयन करते हैं । उनमें अपनी दृष्टि के अनुकूल व्यवस्था पैदा

---

1. कामायनी : एक पुनर्विचार, पृष्ठ-137
2. द सोसियोलाजिकल इमैजिनेशन, मिल्स, पृष्ठ 14, 1967

करते है । इस प्रक्रिया में रचनाकार समाज की एक तस्वीर बनाता है और समाजशास्त्री सिद्धांत गढ़ता है[1] ।

साहित्य के सामाजिक संदर्भ के अध्ययन से ही साहित्य की सामाजिक भूमिका का सवाल जुड़ा है । क्या रचनाएं पाठकों की चेतना को बदलती है या पहले से चली आ रही दृष्टि को और मजबूत बनाती है ? क्या महत्वपूर्ण रचनाएं अपने अनुकूल चेतना निर्मित कर लेती है ? रचना की शैली और रचनाकार के कथ्य की अभिव्यक्ति से उसका प्रभाव कहां तक प्रभावित होता है[2] । कई बार रचनाकार की कल्पना एक ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था प्रस्तुत करती है जो शासकों द्वारा प्रचारित विचारधारा के विरोध में पड़ती है । इसलिए वह शासकों के लिए खतरा बन जाता है । भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान प्रतिबंधित कविता, कहानी, उपन्यास और नाटक इस सचाई की पुष्टि करते है[3] ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य को समाज का दर्पण ही नहीं कहा, वे उसे समाज के परिवर्तन और विकास को प्रभावित करने वाली शक्ति के रूप में देखते थे । उन्होंने लिखा है – "यूरोप में जातीय स्वतंत्रता के बीज उसी ने बोए है, व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को उसी ने पाला-पोस और बढ़ाया है । .... पोप की प्रभुता को किसने कम किया ? पदाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊंचा किया ? साहित्य ने, साहित्य ने ।"

---

1. स्पीकिंग टू इच अदर – रिचर्ड होगार्ट, पृष्ठ-23, 1973
2. लिटरेचर एंड सोसाइटी – सी.आई. ग्लक्सबर्ग, पृष्ठ-243, 1972
3. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका – डा. मैनेजर पांडेय, पृष्ठ-18, 198

समाज-परिवर्तन और चेतना के विकास की प्रेरक शक्ति के रूप में साहित्य को देखना स्वाधीनता आंदोलन में साहित्य की भूमिका से जुड़ा हुआ है । यहां साहित्य समाज का निष्क्रिय प्रतिबिंब नहीं है ।

हिन्दी में साहित्य की सामाजिक दृष्टि भारतेंदु युग में सामने आई है । यहीं से हिंदी में आधुनिकता का समावेश होता हुआ स्वाधीनता आंदोलन की प्रक्रिया में समाज से साहित्य के संबंध की नयी चेतना का विकास हुआ । इसकी अभिव्यक्ति सबसे पहले बालकृष्ण भट्ट के लेखों में हुई । जुलाई 1881 के "हिन्दी प्रदीप" में प्रकाशित एक निबंध में उन्होंने लिखा था — "साहित्य जनसमूह के हृदय का विकास है ।"

भट्ट जी ने 'जनसमूह' का प्रयोग जाति (नेशन) के अर्थ में किया है । इस प्रकार साहित्य की सामाजिक दृष्टि के साथ हिन्दी में जातीय साहित्य की अवधारणा भी विकसित हुई ।

2. समाज में साहित्यकार और साहित्य

साहित्य के समाजशास्त्र की दूसरी दृष्टि लेखक की सामाजिक स्थिति और रचना के बजाय स्वयं उत्पादन पक्ष पर अधिक बल देती है । इसमें विचार का केंद्र साहित्यिक पाठ के स्थान पर संरक्षण और उत्पादन की लागत हो जाते है । सस्ते प्रकाशन और व्यापक खपत वाले बाजारों के उदय के कारण यही संरक्षण तंत्र प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं के हाथ आ जाता है । पूंजीवादी व्यवस्था में मध्यवर्गीय पाठक का उदय लेखकीय निर्भरता को व्यावसायिकता में बदल देता है[1] ।

---

1. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन (सं.- प्रो. निर्मला जैन), पृष्ठ (1X), 1986

इस दृष्टि में इस बात की व्याख्या होती है कि साहित्यिक उत्पादन और खपत के नियामक तत्व रचनाओं के रूप और कथ्य को किस रूप में और किस हद तक प्रभावित करते है ।

आज साहित्य और साहित्यकार की वही स्थिति नहीं है जो गण समाज या सामंती समाज में थी । अपने समाज में जो स्थिति वाल्मिकी, कालिदास या बिहारी की थी वही आज के लेखक की नहीं है । आर्नाल्ड हाउजेर ने "कला का सामाजिक इतिहास में " विभिन्न कालों और समाज व्यवस्थाओं में कलाकार की बदलती स्थितियों का विश्लेषण किया है । इस प्रकार का विश्लेषण 20वीं सदी में विकसित हुआ जो पूंजीवादी समाज में कलाकारों और साहित्यकारों की जटिल त्रासद स्थितियों को समझने के प्रयत्न का परिणाम है ।

गण समाज में कवि या कलाकार सामान्यत: अनाम रहता था । जब कला धर्म के नियंत्रण में थी तब भी वह अधिकतर अनाम ही रहा । अजंता के चित्रों की उत्कृष्टता से कोई इनकार नहीं कर सकता, लेकिन उन चित्रों के चित्रकार या चित्रकारों का नाम कोई नहीं जानता । अधिकांश मौखिक साहित्य के रचनाकार गुमनाम रहते है । सामंती युग से कला और साहित्य की सीमित स्वतंत्रता के साथ कवि के स्वतंत्र व्यक्तित्व की बात सामने आने लगती है । उस समय भी लोकजीवन के रचनाकारों और दरबार के रत्नों की स्थिति एक जैसी नहीं है । पूंजीवादी युग में कलाकार के व्यक्तित्व की स्वतंत्रता एक सचाई और समस्या के रूप में सामने आती है ।

समाज से लेखक के संबंध, उसकी स्थिति, जीविका, आश्रय और इन सबसे प्रभावित होने वाली मानसिकता के अध्ययन की दिशा में फ्रांस के

रोबेर एस्कार्पित ने महत्वपूर्ण काम किया है । वे साहित्य को सामाजिक उत्पादन मानते हुए उसके वितरण और उपभोग पर विचार करते है । आज साहित्यकार को मसिजीवि कहा जाता है । इससे स्पष्ट है कि लेखन केवल शौक नहीं है, जीविका का साधन भी है । हालाँकि हिन्दी में अभी ऐसी स्थिति नहीं है कि लेखक केवल लेखन से आजीविका चला सके । इसलिए यहाँ शौकिया लेखक अधिक है ।

लेखक की सामाजिक स्थिति का एक चर्चित पक्ष है – सत्ता से उसका संबंध । 1958 में नागार्जुन ने लिखा था, "मौजूदा शासन के अंदर सर्वांशत: राज्याश्रय सच्चे साहित्यकार के लिए ठंडी कब्र है यानी प्राणशोषक समाधी[1] ।" 1987 में राजेंद्र यादव ने लिखा है कि सत्ता और साहित्यकार का संबंध एकतरफा और सपाट नहीं है । हम सत्ता की सुविधाएं और तकलीफें दोनों भोगते हैं । आधारभूत सुविधाएं हमें हक की तरह मिलें – यह हमारा मौलिक अधिकार है[2] ।

लेखक की सामाजिक स्थिति और साहित्य के उत्पादन पक्ष पर केंद्रित साहित्यिक समाजशास्त्रीय दृष्टि में इस बात का बराबर खतरा बना रहता है कि साहित्य को समझने का प्रयास अंतत: किन्हीं अन्तर्निहित तत्वों को सूत्रों में घटाने की स्थूल-प्रक्रिया बनकर न रह जाए ।

गोल्डमान के अनुसार, महान लेखक सामाजिक स्थितियों का इस रूप में अतिक्रमण कर जाता है कि पाठ्य सामग्री में निहित अर्थ का संबंध बाजार में लेखक की स्थिति से नहीं रह जाता । इसके विपरीत दूसरे दर्जे के लेखक

---

1. और 2. डा. पांडेय की पुस्तक में उदधृत, पृष्ठ-2।

सामाजिक-आर्थिक दबाव से अपने को नहीं मुक्त कर पाते।

3. पाठक और साहित्य

पाठक के पास पहुंचकर ही कृति सार्थक होती है। समकालीन पाठकों से निराश लेखक भविष्य में पाठकों की तलाश करता है। रोमैंटिक काल में आलोचना का केंद्र रचनाकार था। कृति उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति थी। इसके विपरीत बार्थ ने यहां तक घोषणा कर डाला कि लेखक की मौत की कीमत पर पाठक का जन्म आवश्यक है[1]।

साहित्य के समाजशास्त्र में पाठक के महत्व को स्वीकारने का मतलब होता है उत्पादन के बजाए उसके उपभोग की स्थितियों की व्याख्या। उसके तहत पाठक द्वारा कृति के चयन, चयन के कारण, पाठक पर प्रभाव, कृति के अर्थ की पुनर्रचना, पाठक की प्रतिक्रियायों आदि का अध्ययन होता है। इससे पाठक की बदलती मानसिकता और किसी रचना की घटती-बढ़ती लोकप्रियता के अन्तर्संबंधों पर प्रकाश पड़ता है। पाठक की रुचि के विकास में रचना की भूमिका और साहित्य के स्वरूप के विकास में पाठक समुदाय का महत्व भी सामने आता है।

पहले रचनाकार सीधे समाज को संबोधित करता था। जब साहित्य मौखिक था तो श्रोता से संवाद और सहज था। साहित्य के लिखित होने के बाद पाठक का अस्तित्व सामने आया। सामंती समाज में भी कवि का अपने श्रोता पाठक से सीधा संबंध था। वह उनके लिए लिखता था जिनको

---

1. इमेज-म्यूजिक-टेक्स्ट - रोलां बार्थ, 1977, पृष्ठ-148

जानता था । आज का लेखक अपने पाठकों को नहीं जानता । लेखक और पाठक के बीच में बाजार मौजूद है । यह सही है कि कृति पर रचनाकार के व्यक्तित्व की छाप होती है जो बाजार की दूसरी वस्तुओं पर नहीं होती । लेकिन बाजार में आते ही कृतिकार से रचना स्वतंत्र हो जाती है और पाठक से उसका वस्तुगत संबंध हो जाता है ।

रचना और पाठक के संबंध का दूसरा पहलू यह है कि रचना अपने पाठक पैदा भी करती है । कहने का मतलब है कि रचना सिर्फ रचनाकार की चेतना की उपज न होकर चेतना पैदा भी करती है । उपन्यास के शैशव काल में उन्हें बच्चों को बिगाड़ने वाली पुस्तकें समझा जाता था । राजसत्ता ने भी अनेक उपन्यासों पर प्रतिबंध लगाए । सबसे ताजा उदाहरण इरान के धार्मिक नेता खुमैनी द्वारा सल्मान रुश्दी की पुस्तक 'द सेटेनिक वर्सेज' को लेकर लेखक के खिलाफ जारी फतवा है । वैसे धार्मिक पत्रोंगापंथियों को छोड़कर अब उपन्यास के निंदक विरले ही मिलेंगे ।

साहित्य पढ़ने के अनेक कारणों के अनुसार पाठक भी अनेक प्रकार के होते हैं । शिक्षा संस्थानों के पाठ्यक्रमों के तहत मजबूरी में साहित्य पढ़ना पड़ता है क्योंकि वहाँ चुनाव की स्वतंत्रता नहीं होती । स्वतंत्रता के साथ साहित्य पढ़ने वालों में कुछ का उद्देश्य समाज में विशिष्ट बनना है तो कुछ का केवल मनोरंजन । बहुत कम लोग अपने भावों-विचारों को पुष्ट करने के लिए साहित्य पढ़ते हैं । आलोचक साहित्य के विवेकशील पाठक माने जाते हैं ।

पाठक और साहित्य के संबंध को लेकर दो दृष्टियाँ सर्वाधिक प्रचलित रही हैं । एक में साहित्य के विकास में पाठक समुदाय की भूमिका का विवेचन

हुआ है तो दूसरी में पाठकीय आस्वादन और पाठक की प्रतिक्रिया का । पहली का विकास इंगलैंड में हुआ है तो दूसरी का जर्मनी में । इंगलैंड के क्यू॰ डी॰ लीविस की पुस्तक "उपन्यास और पाठक समुदाय " में लोकप्रिय उपन्यासों से पाठकों के संबंध का विवेचन करते हुए यह बताया गया है । उपन्यासों की लोकप्रियता में साहित्यिक अभिरुचि की पतनशीलता दिखाई देती है ।

दूसरी ओर रिचर्ड होगार्ट ने लीविस के इस दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए जनोन्मुखी दृष्टिकोण से साहित्य के विकास में पाठक समुदाय के महत्व पर विचार किया है । उनकी पुस्तक 'यूसेज आफ लिटरेसी ' में उत्तरी इंगलैंड के मजदूर वर्ग में लोकप्रिय साहित्य, उनकी मान्यताएं, प्रवृत्तियां और नैतिक चेतना का विश्वसनीय रूप मिलता है ।

साहित्य के विकास में पाठक समुदाय की भूमिका पर विचार करते हुए इवान वाट्स ने अपनी पुस्तक "उपन्यास का उदय " में लिखा है कि लेखकों के आश्रय की पुरानी पद्धति का अंत, पुस्तक बाजार के विकास, पाठक के रूप में मध्य वर्ग के विस्तार और उस वर्ग के साथ उपन्यासकारों के घनिष्ट संबंध के कारण उपन्यास का विकास हुआ । इसी को आगे बढ़ाते हुए रेमंड विलियम्स ने 'लांग रिवोल्यूशन ' नामक पुस्तक में पाठक समुदाय के विकास के साथ विभिन्न गद्य विधाओं के विकास के संबंध का विवेचन किया है ।

पाठक और साहित्य के संबंध पर विचार करते हुए जर्मनी के शुकिंग ने लिखा कि किसी समय में एक राष्ट्र या जाति के विभिन्न वर्गों में लोकप्रिय साहित्य और उसकी लोकप्रियता के कारणों पर विचार आवश्यक है[1] । पाठकीय

1॰ रिसेप्शन थियरी - आर॰सी॰ हाल्यूब, 1984, पृष्ठ-50

अभिरुचि को नियंत्रित करने वाली संस्थाओं और शक्तियों के महत्व का इससे पता चलता है । प्रत्येक समाज में हर समय एक समुदाय होता है जो मुख्य रूप से संस्कृति का वाहक होता है । इस समुदाय के प्रभाव का आधार है — सामाजिक संरचना में उसकी स्थिति[1] । शूकिंग ने साहित्यिक मूल्यों, प्रतिमानों और पाठकीय अभिरुचि को सामाजिक संरचना से जोड़ा ।

साहित्य के विकास में पाठकों की भूमिका पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने लिखा है — साहित्य विवेचन में इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि किसी विशेष समय में लोगों की रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ[2] ।

भक्तिकाल की कविता को आचार्य शुक्ल जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह मानते है और रीतिकाल में श्रृंगार प्रधान कविताओं के कारण सामंती आश्रय-दाताओं की रुचि को । साहित्यिक कृतियों की लोकप्रियता को आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों के नामकरण में महत्वपूण आधार माना है । ग्रंथों की प्रसिद्धि को वे जनभावनाओं की अभिव्यक्ति मानते है[3] ।

साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की उपरोक्त दृष्टियां एक दूसरे की पूरक है । यह कृति विशेष पर निर्भर करता है कि किस दृष्टि का कहां तक उपयोग किया जाए । यथार्थवादी शैली में लिखे उपन्यास का समाजशास्त्रीय विवेचन ठीक उसी तरह से नहीं हो सकता जिस दृष्टि से प्रतीकात्मक शैली में लिखे उपन्यास का । जैसे खत्री के तिलस्म प्रधान प्रतीकात्मक उपन्यास 'चंद्रकांता'

---

1. रिसेप्शन थ्योरी, पृष्ठ-5।
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य शुक्ल, पृष्ठ-।
3. वही, पृष्ठ-9

और शिवपूजन सहाय के यथार्थवादी शैली के उपन्यास 'देहाती दुनिया' का विवेचन एक ही दृष्टि से नहीं हो सकता ।

4. देहाती दुनिया का प्रकाशन और उसका प्रभाव

इस उपन्यास का प्रकाशन 1926 में हुआ था । लेखक के अनुसार इसकी रचना देहाती पाठकों के 'मनोरंजन' को ध्यान में रखकर की गई थी । पाठकों का ख्याल रखते हुए ग्रामीण मुहावरों और लोकोक्तियों का जमकर प्रयोग हुआ है । लोक भाषा को उसकी पूरी लय में पकड़ने का प्रयास किया गया है ।

'देहाती दुनिया' की भूमिका में उपन्यासकार ने स्वीकार है कि कृत्रिम और आडंबरपूर्ण भाषा में लिखी पुस्तकें शिक्षित लोगों को भले भा जाएं, हमारे देहाती मित्रों का उससे कोई मनोरंजन नहीं होता ।

लेखक का यह आत्मकथ्य 'देहाती दुनिया' के प्रभाव के बारे में महत्वपूर्ण संकेत दे देता है ।

जिस समय देहाती दुनिया का प्रकाशन हुआ, उस समय हिन्दी पाठकों में खत्री और गहमरी के तिलस्मी प्रतीकात्मक उपन्यासों की धूम थी । हालांकि 1922 में ही प्रेमचंद के उपन्यास 'प्रेमाश्रम' का प्रकाशन हो चुका था । फिर भी ऐसे उपन्यासों के पाठक बहुत कम थे । हिन्दी भाषी मध्य वर्ग यूरोपीय मध्य वर्ग की तरह स्वतंत्रता का भी नहीं था । उसे तिलस्मी और ऐय्यारी के किस्सों से भरे उपन्यास भाते थे जो पलक झपकते कल्पना लोक के मायाजाल में पहुंचा देते थे । जहां हर समस्या का चुटकी बजाते हल हो जाता था ।

'देहाती दुनिया' ने आम हिन्दी पाठकों के सामने एक नया विकल्प रखा । मनोरंजन के साथ-साथ इस उपन्यास में लोकभाषा का सहारा लेकर

ग्रामीण जीवन के कटु यथार्थ की कहानी कही गई । अपनी ओर से कोई आदर्श या समाधान नहीं प्रस्तुत किया गया जिसने पाठकों की परंपरागत चेतना को झकझोरा और उनकी रुचि के परिष्कार में अहं भूमिका अदा की ।

इस दृष्टि से 'देहाती दुनिया' का प्रेमचंद के गंभीर उपन्यासों के लिए पाठक तैयार करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा क्योंकि शुद्ध मनोरंजनपरक उपन्यासों से गंभीर उपन्यासों के लिए पाठक रातोंरात नहीं तैयार हो सकता था । 'देहाती दुनिया' में मनोरंजन और यथार्थ दोनों का पंचमेल है ।

जहां तक रचनाकारों पर प्रभाव का सवाल है शिवपूजन सहाय ने 'देहाती दुनिया' में तत्कालीन समाज का गैर रोमैंटिक चित्रण कर समाधानपरक उपन्यासों की जगह यथार्थवादी दृष्टि के उपन्यासकारों के लिए एक उदाहरण पेश किया । इसी यथार्थ दृष्टि का विकास प्रेमचंद के गोदान में होता दिखाई पड़ता है जहां रचनाकार 'प्रेमाश्रम' और 'सेवासदन' से छुटटी पा लेता है ।

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दी पाठकों को शुद्ध मनोरंजन के लोक से निकालकर गंभीर उपन्यासों के अध्ययन के लिए तैयार करने की दिशा में 'देहाती दुनिया' ने ऐतिहासिक महत्व का काम किया है ।

इस उपन्यास का शिल्प कथानक के परंपरागत ढांचे को तोड़ता है क्योंकि इसमें कोई नायक नहीं है । राम सहर गांव की पूरी आबादी इसमें नायक बन जाती है । शिल्प का यह प्रयोग हिंदी उपन्यासों के लिए बिल्कुल नया था । लेकिन दूसरी बार इस शिल्प का विश्वसनीय प्रयोग 'मैला आंचल' (1954) में ही मिलता है जिसमें पूर्णिमा अंचल अपनी संपूर्णता में उभरा है । हां आंचलिक भाषा और लोक उपादानों का प्रयोग 'देहाती दुनिया' के परवर्त्ती उपन्यासों में लगातार बढ़ता गया ।

संभवत: शिल्पगत प्रयोग को लेकर ही आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने 'देहाती दुनिया' को हिन्दी का महान आंचलिक उपन्यास घोषित कर दिया। डा॰ प्रतापनारायण टंडन भी इसी मत के हैं। इसे लेकर कहा गया है कि यह उपन्यास की प्रचलित रूढ़ि को तोड़ने की दिशा में एक साहसिक कदम था, किंतु शायद यह कदम समय से बहुत पहले उठा लिया गया। इसीलिए इसका समुचित मूल्यांकन आंचलिक उपन्यासों का 1950 के आसपास आविर्भाव होने के बाद हुआ।[1]

डा॰ लक्ष्मीकांत इसे ग्रामीण अधिक और आंचलिक कम मानते हैं। जबकि डा॰ एच॰के॰ कव्वे का कहना है कि 'देहाती दुनिया' अपनी शिल्पगत विशेषताओं के कारण आंचलिक उपन्यासों के भले ही करीब हो, इसमें चित्रित लोक-जीवन को भौगोलिक और ऐतिहासिक पार्श्वभूमि में नहीं उभारा गया है।[2]

-0-

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास (सं॰ नगेन्द्र), पृष्ठ-586
2. हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति - कव्वे, पृष्ठ-175

अध्याय - दो

"देहाती दुनियां" में सामाजिक यथार्थ

अध्याय - दो

'देहाती दुनियां' में सामाजिक यथार्थ

"देहाती दुनियां" की भूमिका में लेखक ने कहा है - मैं ऐसे ठेठ देहात का रहने वाला हूँ, जहाँ इस युग की सभ्यता का बहुत ही धुंधला प्रकाश पहुँचा है। वहां केवल दो ही चीजें प्रत्यक्ष देखने में आती हैं — अज्ञानता का घोर अंधकार और दरिद्रता का तांडव नृत्य। वहीं पर मैंने स्वयं जो कुछ देखा-सुना है, उसे यथाशक्ति ज्यों-का-त्यों इसमें अंकित कर दिया है। ..... यहाँ तक की भाषा का प्रवाह भी मैंने ठीक वैसा ही रखा है, जैसा ठेठ देहातियों के मुख से सुना है।[1]

लेखक के आत्मकथ्य से स्पष्ट है कि देहात के जीवन के यथार्थ का चित्रण करना उसका अभिष्ट है। अब सवाल उठता है कि ग्रामीण जीवन के

---

1. देहाती दुनिया, 1981, भूमिका से.

DISS
0,152,3,M931,1:g
152N1
TH-3973
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY LIBRARY

दो पक्षों - अज्ञानता और दरिद्रता को कितनी गहराई और कलात्मकता से उभारा गया है ? और इस यथार्थ के सामाजिक पक्ष को उसके पूरे अंतर्विरोधों के साथ प्रस्तुत करने में उपन्यासकार को कितनी सफलता मिली है ।

उपन्यास में कोई चरित्र प्रमुख नहीं है । पारंपरिक ढांचे से बिल्कुल हटकर पूरा गांव ही चरित्र के रूप में उभरता है । इसलिए कोई समस्या विशेष इसके केन्द्र में नहीं है ।

भोजपुर जनपद के गांव "रामसहर" के इर्द-गिर्द उपन्यास की कथा घूमती है । एक तरफ जमींदार रामटहल सिंह हैं जो गोबर पाथने वाली बुधिया को रखैलिन बना लेते हैं और इस पर टिप्पणी करने वाले मज़दूर खेदू कहार को पीटते-पीटते बेहोश कर डालते हैं । उसके सामने बहू-बेटियों की इज्जत उतरवाते हैं । दूसरी तरफ दारोगा जी हैं जिनके आतंक से पूरा गांव सहमा रहता है । लोगों को नाहक परेशान करने, पैसा ऐंठने और झूठे मुकदमें में फँसाने में उन्हें महारत हासिल है ।

अंधविश्वास और ढोंग के संवाहक पुरोहित वर्ग के प्रतिनिधि पात्र हैं पशुपत पांडेय जो अनपढ़ होने के बावजूद बहुत बड़े तांत्रिक समझे जाते हैं । ब्रह्मपिशाच शांत करने के नाम पर रामटहल सिंह की मां से खूब पैसा ऐंठते हैं । उधर मजदूर चौतरफा शोषण के शिकार हैं । पुरोहित वर्ग उन्हें धर्म के नाम पर ठकता है तो सामंत बाहुबल के आंतक से । पुलिस और जमींदार बेखटके उन्हें पीटते हैं और उनकी औरतों की इज्जत लूटते हैं ।

पूरे उपन्यास में स्वाधीनता आंदोलन का कहीं भी जिक्र नहीं है जबकि 1857 में इसी इलाके से अंग्रेजों के खिलाफ बाबू कुंवर सिंह ने विद्रोह का बिगुल फूंका था और इस सदी के दूसरे दशक में गांधी जी ने चंपारण से असहयोग आंदोलन की शुरूआत की थी । इतना ही नहीं किसान जीवन का भी चित्रण काफी सतही ढंग से किया गया है जबकि "देहाती दुनिया" के प्रकाशन (1926) से चार वर्ष पहले प्रेमचंद का "प्रेमाश्रम" आ चुका था जिसमें किसान जीवन की अभिव्यक्ति बहुत ही यथार्थवादी शैली में की गई है । क्या किसानों के बिना "ठेठ देहात" की कल्पना की जा सकती है ?

गोबर पाथने वाली बुधिया जमींदार की रखेलिन बन तीन लड़कियों की मां भी बन जाती है । फिर इज्जत के डर से जमींदार उसे बहला-फुसलाकर गांव से बाहर कर देता है । उसकी एक बेटी को जमींदार का श्वसुर बूढ़े गुदरी राम के हाथों बेच देता है । बाकी दोनों बेटियों को बचाने के चक्कर में बुधिया एक साहूकार की रखेलिन बनने को मजबूर हो जाती है ।

बुधिया से जुड़े प्रसंगों को बस एक घटनाक्रम में रख दिया गया है । उसकी त्रासदी को पूरी गहराई में नहीं उभारा गया है । ऐसा लगता है मानों एक रिपोर्ट लिखी जा रही हो ।

जमींदार द्वारा खेदू कहार के पूरे परिवार की पिटाई के बाद खेदू के लड़के कलकत्ता चले जाते हैं । लेकिन खेदू और उसकी पत्नी सोनिया

को हर हालत में गांव में ही रहना प्रिय है । जमींदार के आतंक को वह नियती मान बैठा है । उसे "गोदान" के होरी की तरह ही परत-दर-परत शोषण की समझ नहीं है । लेकिन होरी के बेटे गोबर की तरह खेदू के बेटे वर्तमान स्थिति से विद्रोह करते हैं ।

लेकिन यहाँ ध्यान देने लायक बात यह है कि यह विद्रोह समाज की संरचना से नहीं है जिसकी वजह से उनकी यह दुर्गति हुई है । गांव छोड़कर कलकत्ता जाना एक निजी स्तर का विद्रोह है । जाति व्यवस्था पर बहोरन चोट नहीं करता, वरन् उसकी आड़ लेकर कहता है - "क्या हम डोम-चमार हैं कि अपनी इज्जत का कुछ ख्याल नहीं है ? पलटू भी तो चमार ही है; उसने अपनी इज्जत की लाज से धर्म तक छोड़ दिया । ··· हम तो कहार हैं । हमारा गट्टा पाक है । हमारा छुआ पानी तो ब्राह्मण पीते हैं ।"[1]

पलटू चमार की जमींदार के कारिंदों ने इसलिए पिटाई कर दी थी कि राम टहल सिंह के "बेटी बेचना" श्वसुर पर उसने व्यंग्य कसा था । बस क्या था, वह ईसाई हो गया । उस पर मार पड़ते ही ईसाइयों के कान

---

1. वही, पृ.-33.

खड़े हो गए । वे तुरत पलटू को बाल-बच्चे सहित अपने अड्डे पर ले गए[1] ।

हिन्दू समाज के उत्पीड़न से तंग आकर पलटू धर्म परिवर्तन करता है । जाति व्यवस्था की मार पर बहोरन कलकत्ता चला जाता है । दोनों ही स्थितियों में मूल्यों के टकराव की स्थिति नहीं है । जड़ व्यवस्था की वास्तविकता से पलायन करने का प्रयास है ।

दूसरी तरफ जमींदार की ड्योढ़ी पर चढ़कर रखेलिन बुधिया का राम टहल सिंह की मां से झगड़ना और अंतत: बड़ी हवेली में उसे रहने की स्वीकृति पाना अविश्वसनीय लगता है । जिस जमींदार के कारिंदे दिनदहाड़े रतेंदू कहार की बहु-बेटियों को बेआबरू कर सकते है उन्होंने बुधिया को जमींदार की मां से कैसे झगड़ने दिया ? बड़ी हवेली के फाटक पर बैठकर बुधिया ने धमकी दी कि वह राम टहल का गांव भर के सामने पानी उतारेगी । उसे अदालत में ले जाएगी[2] ।

ऐसा लगता है कि बुधिया को रखेलिन बनाकर और अपने घर में रखकर जमींदार ने परंपरागत नैतिकता को तोड़ा था जिस कारण इस बात को लेकर गांव में उसकी पहले जैसी इज्जत नहीं रह गई थी । इसलिए वह बुधिया के मामले में चुप रहना ही पसंद करता है । लेकिन महादेई के पिता की सहायता से बुधिया को बहला-फुसलाकर उससे छुटकारा पाने में सफल होता है ।

---

1. वही - पृष्ठ-31
2. वही - पृष्ठ-37

गावों में परंपरागत शिक्षा की धीरे-धीरे जगह लेती स्कूली शिक्षा और स्कूली शिक्षा के व्यवसायीकरण का लेखक ने मार्मिक चित्रण किया है। "जब हम गाँव की पाठशाला में पढ़ते थे, तब हर सनीचर को धोए हुए चावल, पैसा भर गुड़ और एक गोरखपुरिये पैसे से पाठ पूजते थे। ..... बहुत लड़के ऐसे थे, जो कभी चावल लाते थे तो गुड़ और पैसा नहीं, कभी पैसा — तो चावल और गुड़ नहीं।"[1]

इतना ही नहीं कभी-कभी किसी लड़के के यहाँ गुरुजी का पैसा और चावल महीनों बाकी रहता था। उसका बाप गुरु जी के आगे दुखड़ा रो जाता, बस गुरु जी कुछ नहीं कह पाते थे।

लेकिन 'रामसहर' के हिन्दी-मिडिल स्कूल में 'गुरुजी' की जगह 'मास्टर साहब' थे, बैठने के लिए चटाई के बजाय बेंचें थी, बंगलानुमा इमारत थी। पर लड़के के मां-बाप के दुखड़े को सुननेवाला कोई न था। लड़के का नाम कट जाता था[2]। इन सबके बावजूद पढ़ाई का तरीका वही रहा। छड़ी ने साथ नहीं छोड़ा।

परंपरागत शिक्षा व्यवस्था के 'सेक्युलर' शिक्षा में धीरे-धीरे बदलते जाने की प्रक्रिया में उपन्यासकार ने यजमानी पर आधारित पुरानी शिक्षा व्यवस्था के मानवीय पक्ष के विलुप्त होते चले जाने और शिक्षा के खरीद-बिक्री की वस्तु में तबदील होने पर आँसू बहाए हैं। लेकिन पुरानी शिक्षा व्यवस्था के जातिगत आधार को अनदेखा कर दिया है। इसके ठीक विपरीत स्कूल की फीस भरनेवाला किसी भी जाति का विद्यार्थी शिक्षा पा सकता था।

---

1. वही - पृष्ठ-101
2. वही - पृष्ठ-103

निम्न मध्यवर्ग की स्त्रियाँ घर से बाहर कम निकलती थी । उनके मन पर तीर्थस्थानों और शहर का बहुत प्रभाव पड़ता था । इसलिए दारोगा जी ने गुदरी राम की विधवा सुगिया को विभिन्न शहरों और धार्मिक स्थानों पर ले जाने का प्रस्ताव कर प्रसन्न करना चाहा था ।

ग्रामीण स्त्री-पुरुष धर्मभीरु होते है और ढोंगी साधु-संतों के चंगुल में आसानी से फँस जाते है । पशुपति पांडे ने 'ब्रह्मपिशाच' का अत्याचार समाप्त करने के बहाने जमींदार की माँ से हजार रुपए ऐंठ लिए । बेटे गोवर्द्धन के बीमार होने पर ओझा को बुलवाया ।

तीर्थस्थानों की यात्रा करनेवाले भी अहंकारी और वैराग्य का ढोंग किए होते थे । अपनी बात मनवाने के लिए मारपीट करने के लिए तैयार रहते थे । दो यात्रियों के बीच इस बात को लेकर तकरार हो जाती है कि कौन धार्मिक पुस्तकों से ज्यादा अवगत है । धर्म की बुनियादी सीख सहिष्णुता से उनका कोई सरोकार नहीं होता ।

सुनकर ही लोगों को धार्मिक कथाओं का अच्छा ज्ञान हो जाता था । चौपालों में चर्चा का विषय होते थे — तुलसीकृत रामायण की चौपाई के अर्थ । सूर के पद । इनकी जानकारी रखनेवाला समाज में इज्जत पाता था । "पंच-मंदिल " का लंबा-चौड़ा चबूतरा इसी तरह की चर्चा का अखाड़ा था । रोज गाँव भर के रामायनी सत्संगी जुटते और सत्संग के बहाने दन्त-कटाकट किया करते थे । तुलसीदास को तो चंदन की तरह रगड़ डालते थे[1] ।

ग्रामीणों के तंत्र-मंत्र, ओझाई आदि पर विश्वास को लेखन ने भोला नाथ की माँ, राम टहल सिंह की माँ और पशुपति पांडेय की पत्नी के

---

1. वही - पृष्ठ-143

माध्यम से व्यक्त किया है । लड़का पैदा हो इसलिए गोवर्द्धन की मां पड़ोसन के आंचल के टुकड़े को नवजात शिशु के नाल के साथ जलाकर खा जाती है । सजीवन तंत्र-मंत्र सीखकर रामटहल सिंह से बदला लेना चाहता है । जातिप्रथा से त्रस्त होकर भी उसके खिलाफ कोई सकारात्मक दृष्टिकोण नहीं है । ऐसा लगता है सामाजिक स्थिति को लोग अपरिवर्तनशील मानकर जीने को विवश थे । तभी तो जमींदार के अत्याचार के विरोध में गांव छोड़कर कलकत्ता जाने वाला संजीवन अंतत: अंधविश्वास की भूमि पर ही रामटहल सिंह से लड़ना चाहता है ।

पूरे उपन्यास में सिर्फ एक जगह औपनिवेशिक शोषण के शिकार गावों की दुर्दशा पर टिप्पणी है । वह भी जमींदार अनपढ़ चौकीदार घूरन सिंह के माध्यम से — "आज जबकि परगने-परगने में रेल है, तब तो बैल-बछरू और घी-अनाज देसावर चला जाता है और जिस दिन दुआरे-दुआरे रेल हो जाएगी, उस दिन तो घर-घर के कोठिले में चुहिया डंड पेलेगी[1] ।" इन पंक्तियों में कृषि के व्यावसायीकरण के दुष्प्रभावों का सटीक वर्णन है । लेकिन ऐसे अवसर बहुत कम आए है ।

अंग्रेजों के जमाने में ग्रामीणों पर पुलिस का बड़ा आतंक था । जमींदार और उसके कारिंदों से मिलकर वह ग्रामीणों से मनमाना व्यवहार करती थी । पुलिस अधिकारियों में दारोगा का जनता से सीधे संपर्क था । इसलिए उसके आते ही गांव के लोग एक पांव पर खड़े रहते थे । उसकी सेवा के लिए हमेशा तत्पर रहते थे । दारोगा का चरित्र-चित्रण प्रातिनिधिक है — देहातियों

---

1. वही - पृष्ठ-185

को धमकाना, गाली देना, झूठे मुकदमें में फंसाना, स्त्रियों की इज्जत लेना आदि उसके लिए मामूली बात थी[1]।

बलिहान में अगलगी के मामले की जाँच में दारोगा जी रामसहर गाँव आते है। पूरा गाँव उनकी आव भगत में लग जाता है — देहात में दारोगा को जो दावत दी जाती है, वह दुनिया में दामाद को भी दुर्लभ है। भगवान अगर किसी पढ़े-लिखे को पेट दें तो कहीं मुफस्सिल की थानेदारी भी किस्मत में लिख दें[2]।

निम्न जाति के लोगों में यौन व्यवहार ऊँची जाति के लोगों की अपेक्षा बहुत खुला होता है। यहाँ तक की रोजी-रोटी कमाने में पति के बराबर का होने के कारण औरतों पर पुरुषों का वह रौबदाब भी नहीं रहता। दूसरी या तीसरी शादी का होना कोई अजूबी बात नहीं मानी जाती। लेखक ने इस सत्य को अनदेखा किया है। हालांकि बुधिया द्वारा जमींदार से अपने यौन संबंध को नहीं छुपाना कुछ हद तक इस मानसिकता का परिचय दे देता है।

दूसरी तरफ ऊँची जाति के औरतों की आम पुरुषों से बातचीत नहीं के बराबर होती थी। इसलिए उनके इरादे के बारे में लोग ज्यादातर कयास ही लगाते थे। पुरानी कहावत है कि औरत के चरित्र को मनुष्य तो क्या, भगवान भी नहीं समझ सके। पशुपति पांडेय का बेटा महादेई से मिलने के बाद सोचता है — 'मसल है, हँसी सो फँसी'[3]।

---

1. वही - पृष्ठ-92
2. वही - पृष्ठ-157
3. वही - पृष्ठ-115

सबसे अधिक आत्मीय ढंग से लेखक ने रामसहर के लोगों की वेषभूषा, खान-पान, रीतिरिवाजों, परंपराओं, अंधविश्वासों, लोककथाओं एवं उनकी छन्दप्रियता का वर्णन किया है । गुरुजी गर्मियों में क्या, जाड़े में भी सत्तू खाया करते थे ।

कहते थे — "तीन टनके सतुआ मीठ - टनक भूअ, टनक नून, टनक घाम — और टनक मिर्चा भी हो तो सीतल बुकनी प्रसाद का क्या कहना ।"[1]

गावों में प्रचलित रीतिरिवाज में बुधिया का रामटहल सिंह को हाथ में गंगाजल, गाय की पूंछ और पीपल का पत्ता देकर कसम खाने के लिए कहना, पाठशाला में प्रत्येक शनिवार को गोरखपुरिए पैसे से पाठ पूजना, रामनवमी-जन्माष्टमी पर रासलीला, श्रावन मास में रँडियों का नाच, द्वारपूजा, बाराती और घरातियों का एक-दूसरे को नीचा दिखाने के लिए संस्कृत में पीटे-पिटाए सवालों का पूछना आदि शामिल है । लेखक का इनके वर्णन मन रमा है जिससे ग्रामीण जीवन का सांस्कृतिक पक्ष विश्वसनीय बनकर उभरा है ।

उपन्यास के रचनाकाल की सबसे तीखी सच्चाई थी पराधीनता और उतनी ही बड़ी सचाई थी स्वाधीनता की लड़ाई । ब्रिटिश शासन में गाँव के लोग दोहरे शोषण के शिकार थे । शासन के संरक्षण में जमींदार, महाजन, सरकारी अमले, पुलिस, पटवारी का गठजोड़ किसानों का शोषण करता था । धर्म के ठेकेदार, पुरोहित, मठाधीश भी इसमें पीछे नहीं थे । गाँव के लोग (जिनमें अधिसंख्या किसान-मजदूर थे) धार्मिक-सामाजिक रूढ़ियों, झूठी मर्यादा भावना से ग्रस्त थे, इसलिए उनका शोषण निर्बाध चल रहा था ।

---

1. देहाती दुनिया - 1981, पृष्ठ-102

ग्रामीण समाज को इन जटिलताओं में उभारने के बजाय लेखक ने यथार्थ चित्रण का दस्तावेजी रूप ही अधिक उभारा है। सबसे बड़ी विसंगति है ग्रामीण जीवन की कथा कहने में किसानों पर चलताऊ ढंग से चर्चा करना। रामसहर को उसके पूरे सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक संदर्भ में नहीं उठाकर सांस्कृतिक पक्ष पर ही अधिक जोर दिया गया है[1]।

दो पीढ़ियों के बीच एक सीमा तक मूल्यगत संघर्ष भी दिखाया गया है लेकिन बुनियादी तौर पर मूल्यों की अनेकता नहीं है। बहोरन जाति व्यवस्था की सीमाओं में ही उसका विरोध करता है। गोवर्द्धन के महादेई के प्रति आकर्षण को बहुत विश्वसनीय ढंग से नहीं चित्रित किया गया है। शादी-शुदा गोवर्द्धन रामटहल सिंह जमींदार की पत्नी को लेकर भाग जाता है। इस प्रकार वह स्त्री-पुरुष संबंध के प्रारंभिक स्वरूप को तोड़ता है। लेकिन उसका यह विद्रोह लेखक के दिमाग की उपज अधिक लगता है, रामसहर में गोवर्द्धन के पारिवारिक और सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं की कम।

रामसहर का शहर से इतना ही संबंध है कि बहोरन और सजीवन दोनों जमींदार के अत्याचार को सहन नहीं कर पाते और शहर में नौकरी करने लग जाते हैं। हावड़ा के पास से जब ट्रेन गुजरती है तो सूरदास कहता है — मालूम होता है कि हम लोग एक नए 'मुलुक' में पहुंच गए। यहां तो बड़ा हल्ला हो रहा है। मुझे तो जान पड़ता है कि 'बुढ़िया आंधी' आ रही है। कहीं आग तो नहीं लगी है[2]?" एक तरफ 'देश' की देहाती अवधारणा की सीमा की ओर संकेत है तो दूसरी ओर शहरी जीवन से कटे

---

1. हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति - एच.के.कडवे, 1978, पृष्ठ-211

2. देहाती दुनिया - पृष्ठ-132

होने का । हालाँकि हकीकत यह है कि गावों के शोषण और प्रशासन के नियामक सूत्र – बड़े जमींदार, सरकारी अमले, कोर्ट आदि शहर में ही थे ।

गाँव के प्रभावशाली वर्ग के रीतिरिवाज और व्यवहार अवचेतन रूप में निम्न तबके के लोगों पर इस कदर छाए रहते है कि उस वर्ग का विरोध करने के बावजूद उसके अन्धविश्वासों और रीतिरिवाजों को ढोते रहते हैं । बहोरन और सजीवन अपनी पत्नियों के साथ कलकत्ता में रहने लगे थे । लेकिन "दोनों की स्त्रियाँ परदे में रहती थीं[1] ।"

कुल मिलाकर 'देहाती दुनिया' एक ऐसा उपन्यास है जिसमें भोजपुर जनपद के अंचल के यथार्थ का यथार्थवादी शैली में चित्रण हुआ है । लेकिन अंचल को आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलताओं और अंतर्विरोधों में उभारने के बजाय सांस्कृतिक पक्ष – रीतिरिवाज, वेशभूषा, खान-पान के चित्रण पर अधिक जोर दिया गया है । सामाजिक यथार्थ – बेमेल विवाह, जमींदार का अत्याचार, पुलिस का आतंक आदि का दस्तावेजी ढंग से चित्रण हुआ है । कथानक बिल्कुल नए किस्म का है । कोई व्यक्ति कथा के केंद्र में नहीं है । अंचल का सामूहिक चित्रण वहीं की भाषा के प्रवाह में किया गया है जो इस उपन्यास की सबसे बड़ी शिल्पगत विशेषता है । यही वजह है कि इसे कुछ लोग हिन्दी का प्रथम आंचलिक उपन्यास कहते है ।

-0-

---

1. देहाती दुनिया - पृष्ठ-117

अध्याय - तीन

"देहाती दुनिया" के रचनाकार की दृष्टि, पाठकीय रूचि और सामाजिक यथार्थ में अंत:संबंध ।

अध्याय तीन

"देहाती दुनियां" में पाठकीय रूचि, लेखकीय दृष्टि और सामाजिक यथार्थ में अंत:संबंध

"देहाती दुनिया" की रचना देहाती पाठकों के "मनोरंजन" को ध्यान में रखकर की गई थी । इसी से उपन्यास में सामाजिक यथार्थ का चयन और लेखकीय दृष्टिकोण भी निर्देशित होता जान पड़ता है । पाठकों का इस हद तक ख्याल रखा गया है कि ग्रामीण मुहावरों और लोकोक्तियों का जमकर प्रयोग हुआ है जो कहीं-कहीं तो सामाजिक संरचना की विसंगतियों को उभारने में भी सहायक सिद्ध हुए हैं । लेकिन शिल्प के धरातल पर लेखक ने कथानक की पारम्परिक अवधारणा को तोड़ा है और हिन्दी में पहली बार कोई अंचल ही नायक बनकर उभरा । इसमें कोई केन्द्रीय चरित्र नहीं है । संभवत: इसके पीछे भी पाठकों की जरूरत ही है । देहात के पाठकों को यह लगे कि उनके आस-पास का यथार्थ उन्हीं के मुहावरे में उपन्यास में व्यक्त हुआ है ।

भूमिका में उपन्यासकार ने स्वीकारा है - "आज तक मैंने जितनी पुस्तकें लिखीं उनकी भाषा अत्यंत कृत्रिम और आडंबरपूर्ण ... हो गई । उनसे मेरे शिक्षित मित्रों को संतोष तो हुआ, पर मेरे देहाती मित्रों का मनोरंजन कुछ भी नहीं हुआ ।"

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि "देहाती दुनिया" की रचना शुद्ध मनोरंजन के ख्याल से की गई थी । जब उसकी रचना हो रही थी उस समय देवकीनंदन खत्री और गोपालराम गहमरी के तिलस्मी-प्रतीकात्मक उपन्यासों की धूम थी । खत्री के उपन्यासों का ऐसा प्रभाव पड़ा था कि बहुत उर्दू भाषा पाठकों ने "चंद्रकांता संतति" आदि पढ़ने के लिए हिन्दी सीखी ।

"हिन्दी साहित्य के इतिहास" में आचार्य शुक्ल ने लिखा है - हिन्दी साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन खत्री का स्मरण इस बात के लिए सदा बना रहेगा कि जितने पाठक उन्होंने पैदा किए उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं ।

इस प्रकार लोकप्रिय साहित्य उस पाठक समुदाय का निर्माण करता है जिसके अभाव में महत्वपूर्ण साहित्य लिखा ही नहीं जा सकता ।(1)

---

1. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका - डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पृ.-102. 1990.

हिन्दी में उपन्यास के विकास पर बात करते वक्त प्रेमचंद के पहले के और समकालीन उपन्यासों की इस दृष्टि से आलोचना की जाए तो शिवपूजन सहाय का "देहाती दुनिया" बाबू देवकीनंदन खत्री के तिलस्मी-प्रतीकात्मक उपन्यासों तथा प्रेमचंद के गंभीर यथार्थवादी उपन्यासों के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी है ।

"देहाती दुनिया" खत्री के उपन्यासों के आगे की कड़ी इस अर्थ में है कि इसमें यथार्थवादी शैली में यथार्थ का चित्रण किया गया है । "चंद्रकांता" आदि में प्रतीकात्मक शैली है । जीवन की क्रूर विसंगतियों से पराशक्तियुक्त यार मिनटों में मुक्ति दिला देते हैं । यह एक तरह से अप्रिय यथार्थ से मुक्ति की रोमैंटिक कल्पना है । दूसरी ओर "देहाती दुनिया" में ऐसी कोई कल्पना नहीं है । मूल्यों का न कोई बुनियादी टकराव है, न ही कोई "माडेल" या विकल्प । ग्रामीण जीवन की विसंगतियों को सीधे-सीधे फोटो-ग्राफिक शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

पत्र-पत्रिकाओं से जुड़े रहने, बंगाल के सांस्कृतिक नवजागरण को करीब से देखने और राजनीतिक आंदोलनों से प्रभावित होने के बावजूद [1] लेखक ने

---

1. मेरा जीवन - शिवपूजन सहाय, 1985, पृ.-87.

'देहाती दुनिया' में स्वाधीनता आंदोलन का जिक्र नहीं किया है, न ही विदेशी गुलामी का। आखिर वह कौन सी मजबूरी थी जिसने उपन्यासकार को ऐसा करने को प्रेरित किया ? 1920 में गांधी जी भारतीय राजनीति पर छा चुके थे। असहयोग आंदोलन शुरू हो चुका था। उसके पहले 'चंपारण मार्च' से बिहार ही नहीं पूरे देश की राजनीति में किसानों की भागीदारी का संकेत मिल चुका था। इतना ही नहीं अपनी अंतिम दो यथार्थवादी कहानियों[1] में भी लेखक ने स्वाधीनता आंदोलन का जिक्र नहीं किया है।

इस स्थिति का उत्तर भी उस समय के हिन्दी पाठक समुदाय की रुचियों में ढूंढा जा सकता है। यह सवाल विचारणीय है कि इस पाठक समुदाय की मानसिक आवश्यकताएं क्या थीं ? अपने समय के साहित्य के विकास और उसके कथ्य एवं रूप के चुनाव में इसकी क्या भूमिका थी ? क्या पाठक समुदाय की चेतना को बदलने का भी उपन्यास में सक्रिय प्रयास किया गया ? पहले से चली आ रही पाठकीय रुचि का परिष्कार करने की कोशिश हुई या नहीं ? उस समय किस तरह के उपन्यास हिन्दी में लोकप्रिय थे ?

20वीं सदी के आरंभ का पाठक हिन्दी भाषी मध्यवर्ग यूरोपीय मध्यवर्ग की तरह स्वतंत्रचेता नहीं था। एक तरफ वह अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का अनुकरण करता था, अंग्रेजी सभ्यता की ओर आकर्षित था तो दूसरी ओर भारत की अस्मिता के प्रति भी थोड़ा बहुत चिंतित था। इसमें अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग घटिया दर्जे के ही सही, अंग्रेजी उपन्यास पढ़ते थे जिससे सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती थी। लेकिन भारतीय चरित्रों से वह वंचित रह जाता था। इसमें ज्यादातर लोग जमींदार घराने से आते थे।

---

1. 'कहानी का प्लाट', 'मानमोचन'।

दूसरी तरफ सिर्फ हिन्दी पढ़ा-लिखा एक ऐसा तबका था जिसकी शिक्षा-दीक्षा रामायण-महाभारत-गीता की कथाओं तक सीमित थी । उसके पास कुछ अतिरिक्त पढ़ने की ललक भी नहीं थी । उस समय तक हिन्दी भाषा का मानक रूप विकसित भी नहीं हो पाया था । ब्रजभाषा बनाम हिन्दी का झगड़ा पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ था ।

इस प्रकार अंग्रेजी राज समर्थक दुविधाग्रस्त मानसिकता वाले अपनी जड़ों से कटा आधारहीन मध्यवर्ग ही उपन्यास का पाठक था । इसी की रुचि के अनुसार उपन्यास लिखा जाता था और जहाँ तक संभव हो सके उसका परिष्कार भी करना था ।

हिन्दी में यही काम 'देहाती दुनिया' सरीखे उपन्यासों ने किया है । जिस पाठक वर्ग में पश्चिम के बुर्जुआ की न स्वाधीन भावना थी और न लोकतंत्र की चेतना, उसके लिए स्वाधीनता आंदोलन का चित्रण करता उपन्यास कहाँ तक स्वीकार्य हो सकता था ? लेकिन नए तैयार पाठक वर्ग को मनोरंजन के साथ-साथ देहात की ठेठ भाषा के जरिए लोक कथाओं का सहारा लेकर ग्रामीण जीवन के कटु यथार्थ की कहानी सुनाना पाठकीय चेतना के परिवर्तन में साहित्य की सक्रिय भूमिका का स्वीकार है । इस दृष्टि से 'देहाती दुनिया' का महत्व ऐतिहासिक है ।

इस उपन्यास में किसान जीवन के यथार्थ को मूल्यों के धरातल पर ही उठाया गया है । यानी कि उसके सांस्कृतिक आयाम पर ही जोर है । जीवन को आर्थिक-राजनीतिक-प्रक्रिया की समग्रता में पकड़ने की कोशिश नहीं है । इसका कारण यह है कि किसान जीवन के मूल्यों से नए मध्य वर्ग

के मूल्यों में बहुत फर्क नहीं था । थोड़ा सा फर्क यही था कि मध्य वर्ग में मूल्यों के टकराव की स्थिति किसानों से कहीं ज्यादा थी । लेकिन किसानों की दयनीय स्थिति के लिए जिम्मेदार अंग्रेजी परस्त मध्यवर्ग कहाँ तक किसानों के परत-दर-परत शोषण की स्थितियों की व्याख्या को स्वीकार कर सकता था ? फिर भी जब हिन्दी को लेकर ही विवाद चल रहा हो, उस समय लोक भाषा और लोक कथाओं को उपन्यास में स्थान देना एक साहसपूर्ण काम था । लोक भाषा और लोक कथा का इस्तेमाल जातीय अस्मिता की पहचान के लिए संघर्ष का सूचक है और इस अर्थ में स्वाधीन चेतना का वाहक भी ।

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि गाँव के प्रति लेखक के मन में कोई रोमैंटिक दृष्टिकोण नहीं है । जब 'प्रेमाश्रम' और 'सेवा सदन' स्थापित करवाए जा रहे हों उस समय उपन्यास में उठाई समस्याओं को बस समस्याओं के रूप में ही रहने देना अचूक यथार्थ दृष्टि का सूचक है । उसी समय लिखी गई कहानी 'कहानी का प्लाट' में अनमेल विवाह की शिकार भगजोगनी बूढ़े पति की मृत्यु के बाद अपने सौतेले बेटे की पत्नी बन जाती है । राम टहल सिंह जमींदार की जवान पत्नी महादेई भी ब्राह्मण के जवान बेटे गोवर्द्धन के साथ भाग जाती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पाठकों को शुद्ध मनोरंजन के लोक से निकालकर शिवपूजन सहाय गंभीर साहित्य के अध्ययन की भूमिका का निर्माण 'देहाती दुनिया' के माध्यम से करते हैं ।

छोटे-छोटे दुकानदार, मिडिल पास लोग-बाग भी उपन्यास पढ़ते थे। किसानों में शिक्षा का वैसा प्रसार था नहीं। ऐसी स्थिति में ग्रामीण यथार्थ की मनोरंजक रूप में प्रस्तुती पाठकीय रुचि का ध्यान रखकर ही की गई होगी। 'देहाती दुनिया' में जन्माष्टमी के अवसर पर रंडी के नाच के दरम्यान ग्रामीण लोगों की कुटुक्तियों का विवरण और नाच के 'छोकड़ों' को ग्रामीणों द्वारा छेड़ा जाना जहाँ एक ओर ग्रामीण वातावरण के चित्रण को विश्वसनीयता प्रदान करता है वहीं मनोरंजन का एक लोक स्वीकृत रूप भी प्रस्तुत करता है।

कुल मिलाकर 'देहाती दुनिया' की रचना का आधार एक ऐसा ग्रामीण अंचल है जहाँ आधुनिक सभ्यता और शिक्षा-दीक्षा की कोई उल्लेखनीय पहुंच नहीं है। इसी का चित्रण लेखक यथार्थवादी शैली में करता है। यथार्थ के ऊपर अपनी ओर से कोई आदर्श नहीं थोपता। साथ ही पाठकीय रुचि का ख्याल रखते हुए लोकभाषा और लोक चरित्रों का भरपूर उपयोग करता है जो काफी साहसपूर्ण है। 'नायक' की परिकल्पना को तोड़ता हुआ यह उपन्यास हिन्दी में पहला प्रयोग था जिसका विकास रेणु के 'मैला आंचल', 'परती परी कथा' आदि में होता दिखाई देता है। संभव है कि लेखन की यथार्थ दृष्टि ने ही उसे ऐसा करने को मजबूर किया हो क्योंकि नायक की परिकल्पना के साथ आमतौर पर आदर्श स्थितियों को जुटाने की मजबूरी हो जाती है जो एक तरह से ठोस-भौतिक समस्याओं का मानसिक समाधान कर देता है।

'देहाती दुनिया' का प्रकाशन भले ही 1926 में हुआ लेकिन यह 1920 के आसपास लिखा जा चुका था। तत्कालीन विचारधारात्मक दबावों — आर्य समाज और गांधीवाद से युक्त होकर उपन्यास की रचना लेखकीय

यथार्थ दृष्टि का नमूना पेश करती है । गावों के यथार्थ का विशेषकर किसान जीवन की त्रासदी को प्रेमचंद ने बड़ी गहराई और आत्मीयता से उभारा । लेकिन समाधान पेश करने से उन्हें 'गोदान' (1936) में ही मुक्ति मिली । इस दृष्टि से 'देहाती दुनिया' (1926) ऐतिहासिक महत्व की कृति प्रतीत होती है ।

-0-

अध्याय - चार

क्या "देहाती दुनिया" एक आंचलिक उपन्यास है ?

अध्याय चार

क्या यह एक आंचलिक उपन्यास है ?

आंचलिक उपन्यास एक ऐसा औपन्यासिक प्रकार है जिसमें किसी विशिष्ट भूभाग या अंचल या समुदाय को केन्द्र में रखकर वहाँ के भौगोलिक, सांस्कृतिक और सामाजिक परिवेश की समग्रता में उसकी संश्लिष्ट जीवन पद्धति की स्थानीय रंगतवाली भाषा में यथार्थपरक ढंग से अभिव्यक्त किया जाता है ।[1]

इस प्रकार आंचलिक उपन्यास किसी विशिष्ट क्षेत्र को अपनी कथावस्तु के लिए चुनता है । समस्त अंचल, कथा-विकास का साधन न रहकर, स्वयं कथ्य बन जाता है । पारंपरिक अर्थों में कोई उसमें नायक नहीं होता या यूं कहें कि पूरा अंचल ही नायक बनकर उभरता है । अंचल की संपूर्णता

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा - डॉ. बंशीधर, पृ.-27 , 1983.

में प्रस्तुती के लिए स्थानीय भाषा का प्रयोग आवश्यक हो जाता है क्योंकि भाषा का संस्कृति और जीवन के अन्य पक्षों से बड़ा जीवंत रिश्ता है ।

इन कारणों से पात्रों की संख्या काफी अधिक हो जाती है । लेखक अंचल की संपूर्ण जनसंख्या को चुनता है और उसके जीवन के स्पंदनों को पूरी तन्मयता के साथ उभरने का प्रयास करता है । यथार्थवादी शैली का उपयोग करते हुए भी किसी चरित्र या पात्र पर अपनी विचारधारा नहीं थोपता । पात्र अपनी स्वाभाविक जिंदगी जीते हैं, लेखक के हाथों की कठपुतली नहीं होते ।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास की परम्परा के मूल में अंग्रेजी सा साहित्य रहा है । यही बात आंचलिक उपन्यासों के मामलों में भी सही है । इस प्रभाव को सबसे पहले मराठी और बंगला में ग्रहण किया गया, फिर हिन्दी में । लेकिन यहां यह कहना अनुचित होगा कि हिन्दी ने बंगला या अंग्रेजी का अनुकरण किया । क्योंकि अंग्रेजी का पहला उपन्यास 18वीं सदी के अंत में (मारिया एजवर्थ - केसल रैक्रेंटर - 1800) ही प्रकाशित हो चुका था [1] जबकि हिन्दी में आंचलिकता की प्रवृत्ति की शुरूआत ही

---

1. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा - डॉ. बंशीधर, पृ.-53.

20वीं सदी में होती है और ज्यादातर लोग यह मानते हैं कि "रेणु" का "मैला आंचल" (1954) हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास है । लेकिन कुछ विद्वानों का मत है कि "देहाती दुनिया" (1926) हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास है । वैसे डॉ॰ बद्रीनाथ ने मनन द्विवेदी के उपन्यास "रामलाल" (1914) को हिन्दी का पहला उपन्यास घोषित किया है । कुछ अन्य लोग वृंदावनलाल वर्मा और नागार्जुन को "रेणु" के पहले का आंचलिक उपन्यासकार मानते हैं ।

हिन्दी का पहला आंचलिक उपन्यास कौन है, इस विवाद में पड़े बिना हम यह जांचने की कोशिश करेंगे कि "देहाती दुनिया" एक आंचलिक उपन्यास है या नहीं ? आंचलिक उपन्यासों की भारत में प्रेरणा भूमि क्या रही है ? उसका सामाजिक संदर्भ क्या है ?

"देहाती दुनिया" का कथानक पारम्परिक कथा संरचना से भिन्न एक नए रूप में सामने आता है । भोजपुर जनपद में "रामसहर" और उसके आसपास के कुछ गाँवों को लेखक अपनी कथा भूमि और कथ्य दोनों बनाता है । उपन्यास में कोई चरित्र केन्द्रीय नहीं है । सामूहिक चरित्र केन्द्रीय नहीं है । सामूहिक चरित्र चित्रण प्रधान है । 35 से अधिक पात्र हैं । अंचल के लोगों की वेशभूषा, खान-पान, रीतिरिवाजों, अंधविश्वासों, दंत कथाओं,

निम्न जाति के औरतों से सवर्णों के चोरी-छिपे शारीरिक संबंध, छंद-प्रियता आदि का सविस्तार वर्णन हुआ है ।

सामूहिक चरित्र-चित्रण के अलावा इस उपन्यास का कथा क्षेत्र सीमित है । समग्र सांस्कृतिक जीवन दर्शन, यथार्थवादी चित्रण, स्थानीय भाषा, फोटोग्राफिक शैली और लोक साहित्य का उपयोग भी इसमें प्रचुर रूप से हुआ है । संभवत: इन्हीं कारणों से आचार्य नलिन विलोचन शर्मा को "देहाती दुनिया" एक महान आंचलिक उपन्यास लगा ।

पहले अध्याय "माता का अंचल" में आत्मकथात्मक शैली में लेखक ने भोलानाथ के बचपन की स्मृतियां, शरारतें, डांट-फटकार आदि के अलावा बाल मनोविज्ञान का हल्का-फुल्का चित्रण किया है । इस चित्रण से कहीं ऐसा नहीं लगता कि भोलानाथ की शरारतें, उसकी पढ़ाई को लेकर उसके माता-पिता के बीच नोंक-झोंक आदि सिर्फ "रामसहर" के परिवेश विशेष की उपज है । अगर कोई चीज बिल्कुल विशिष्ट लगती है तो वह है स्थानीय भाषा, लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग । दूल्हे के आगे-आगे जाती ओहारदार पालकी देखकर लड़के चिल्लाने लगते हैं - "रहरी में रहरी पुरान रहरी, डोला के कनिमा हमार मेहरी ।" सांप को रात के समय भोजपुर भाषा क्षेत्र के लोग "कीड़ा" कहते हैं । भोलानाथ की माँ कहती है - आजकल कीड़े बहुत निकलते हैं । हो सकता है उसी ने काटा हो ।[1]

---

1. देहाती दुनिया, पृ--21.

भोलानाथ की पढ़ाई को लेकर उसकी माँ और पिता के बीच का संवाद बहुत स्वाभाविक बन पड़ा है । भोलानाथ की स्कूल में जमकर पिटाई होती है । उसकी माँ इस पर आपा खो बैठती है — मेरा लड़का बिना पढ़े ही रहेगा । जीता बचेगा तो मजूरी करके गुजर कर लेगा[1] । इस पर भोलानाथ के पिताजी कहते हैं — जिसे तुम कलेजे का टुकड़ा कहती हो उसी की होनहारी के लिए ऐसी बढ़िया असीस ? तुम गुरुजी को गंडों गालियाँ बक गई । तुमको तो सिर्फ बेटेवाली कहलाने की साध पूरी करनी है[2]।

संतान के भविष्य को लेकर माता-पिता के बीच का यह संवाद बहुत स्वाभाविक और सामान्य है । उसे किसी अंचल की विशिष्टता नहीं कही जा सकती ।

'बुधिया का भाग्य' में गोबर पाथनेवाली बुधिया के रामटहल सिंह की रखेलिन बनने और फिर जमींदार के श्वसुर द्वारा उसे बहलाकर रामसहर गाँव से बाहर ले जाने और एक दुकानदार द्वारा बुधिया को फिर रखेलिन बना लेने की त्रासदी का चित्रण हुआ । लेकिन इस अध्याय में आंचलिकता के दृष्टिकोण से पशुपति पांडेय का चरित्र चित्रण बहुत ही स्वाभाविक है — "जाड़े के दिनों में पांड़े जी कुछ रात रहते ही 'पराती' गाने लगते हैं । सूरदास और तुलसी दास की प्रभातियों की टाँगे तोड़कर वह भजनों पर टूट पड़ते हैं । भजन गाकर वह नसदानी के पीछे पड़ जाते हैं[3]।"

---

1. देहाती दुनिया, पृष्ठ-18
2. वही, पृष्ठ-19
3. वही, पृष्ठ-23

पांडेय जी का बेटा गोवर्द्धन जब उनसे आग्रह करता है कि वे 'सुरती' खाना छोड़ दें, तो वे उसे समझाते हैं — "इसका नाम ही है 'श्रुति'"। संस्कृत में श्रुति का अर्थ 'वेद' है। क्या तुमने सुना नहीं है —

"कृस्न चले बैकुंठ को, राधा पकड़ी बाँह।
यहाँ तमाकू खाइ लेहु, उहाँ तमाकू नाहीं।"[1]

उसके बाद पांडेय जी स्नान करते हैं और जब पूजा करने लगते हैं तो बिना लगाम की उनकी जीभ सरपट भागने लगती है —

"नीलाम्भुजं सामल कोमलागं सीता संवारो पितु वाम भाग्यं।
पांडव महा सायक चार चापै नमामि रामं रघुवंश नाथम्।।"[2]

इस प्रकार लोकभाषा के रंग में रंगे संस्कृत के श्लोक और बात-बात में अपने पक्ष को मजबूत करने के लिए लोकोक्तियों का प्रयोग रामसहर के सांस्कृतिक जीवन को विशिष्टता में उभारता है। लेकिन बुधिया का शोषण और जमींदार का गांव वालों पर आतंक रामसहर की सीमाओं को लांघकर किसी भी भारतीय गांव की कहानी लगता है।

'चारों धाम' में पंडित जी ब्रह्मपिशाच शांत करने के नाम पर जमींदार रामटहल सिंह की मां से एक हजार रुपए ऐंठ लेते हैं और तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़ते हैं — "बाल पहले से ही बढ़ा रक्खे थे। दाढ़ी लंबी थी। भभूत रमाकर मूंज की करधनी पहने, कमंडल और मृगछाला के साथ घर से बाहर हो गए। सारी दुनिया उनकी अपनी जागीर बन गई।

---

1. देहाती दुनिया, पृष्ठ-29
2. वही, पृ॰-23

मुट्ठी भर राख देह में मलते ही अकंटक राज्य मिल गया।[1]" ढोंगी साधु का यह प्रातिनिधिक चित्रण है। तभी तो पांडेय जी चारों धाम घूम आते हैं और उनका ढोंगीपन पकड़ में नहीं आता।

रामसहर की प्रकृति का चित्रण लेखक ने पूरी आत्मीयता के साथ किया है। इसमें देहात के ठेठशब्दों की भंगिमाओं का जबर्दस्त प्रयोग हुआ है — "चैत का महीना था। रसे-रसे हवा डोलती थी। आम के मंजराने, नीम के फूलने और महुए के गदराने से दसों दिशाएं गमगमाती थीं। पास ही की घनी अमराई में कोयल कुहुकती थी। ..... बस्ती के इर्द-गिर्द बांसों के झुरमुट में गोरैया और छोटी मैना चहक रही थीं। खेत-खलिहानों में बूढ़े-जवान किसान अपनी मौज से चैत का तान अलापते थे[2]।"

उधर "गांव के रेंग-उठान छोकड़े घर लौटती गौओं के पीछे-पीछे, कंधे पर लाठी लिए, कान पर अंगुली दिए, पिहकते चले आते थे —

अहो राम-ठूंठी रे पकड़िया
सीतल जुड़ि छहियां - ए रामा!
सइयां निरमोहिया रे, अजहुं न आए - हो रामा[3]।"

प्रकृति चित्रण और प्रकृति के बदलते रूप के साथ गांव के लोगों के जीवंत रिश्ते को लोकगीतों में बांधकर लेखक ने रामसहर के सांस्कृतिक जीवन की नब्ज पकड़ ली है। 'पराती', 'बिरहा', 'चैता' — ये सब तो भोजपुर जनपद की ठेठ वास्तविकताएं हैं जो रामसहर को प्रेमचंद के अवध क्षेत्र से विशिष्ट बनाती हैं।

---

1. देहाती दुनिया, पृष्ठ-116
2. वही, पृष्ठ-136
3. वही, पृष्ठ-137

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि 'देहाती दुनिया' में अंचल का नायक के रूप में चित्रण, यथार्थवादी शैली, स्थानीय भाषा का प्रयोग, सीमित कथा क्षेत्र, रीति-रिवाज और अंधविश्वासों आदि का सविस्तार वर्णन इसे आंशिक आंचलिक उपन्यास बनाने में मदद करते हैं। क्योंकि भोजपुर जनपद के पात्रों को स्थानीय विशेषताओं के साथ पूरी जटिलता में नहीं उभारा गया है। 'देहाती दुनिया' के पात्र सिर्फ भोजपुर के नहीं लगते। ठीक वैसे ही जैसे प्रेमचंद के ग्रामीण चरित्र अवध के होते हुए भी पूरे उत्तरी भारत के लगते हैं, आंचलिक नहीं।

लेकिन 'देहाती दुनिया' में प्रेमचंद के उपन्यासों से आंचलिकता का रंग अधिक गहरा है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है लोकधर्मी भाषा को विभिन्न भंगिमाओं में पकड़ने की कोशिश और रीति-रिवाजों तथा प्रकृति का आंचलिक विशेषताओं में चित्रण। लेकिन इसके पात्र अपनी पूर्णता में ग्रामीण अधिक है, आंचलिक कम।

माता का बेटे के प्रति प्रेम, पिता की पुत्र के भविष्य की चिंता, जमींदार का अत्याचार, छोटी जाति के औरतों के साथ शारीरिक संबंध, बेटी बेचनेवाले लोग, यजमानों को ठगने वाले पुजारी, दारोगा जी की चरित्र भ्रष्टता और उनका गांववालों पर आतंक, तंत्र-मंत्र में आस्था, वेश्याओं के नाच में कूट-बोली बोलने वाले लोग आदि का संबंध भारत में देहात के एक बहुत बड़े हिस्से से जोड़ा जा सकता है[1]।

---

1. हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति, ए.के. कड्वे, पृष्ठ-212

लेकिन 'मैला आंचल' के पात्रों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। उसका हर पात्र अपनी गतिविधियों, संवेदना और भाषा में पूरी तरह पूर्णियावासी लगता है। किसी अन्य अंचल से उसे उतनी ही पूर्णता से नहीं जोड़ा जा सकता।

लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि पूरे तौर पर आंचलिक उपन्यास न होने के बावजूद निहित संभावनाओं के लिहाज से 'देहाती दुनिया' बहुत महत्वपूर्ण है। 'मैला आंचल' और 'परती-परीकथा' जैसे उपन्यासों के लिए इसने भूमिका निर्माण का काम किया है। हिन्दी में पहली बार देहाती दुनिया ने नायक की परंपरागत परिकल्पना को तोड़ा और बिना किसी वैचारिक आग्रह के भोजपुर जनपद के एक गांव का सामूहिक-चित्रण किया।

इस अर्थ में 'देहाती दुनिया' में बाद के उपन्यासों 'रतिनाथ की चाची' (नागार्जुन - 1947-48), 'मृगनयनी' (वृंदावनलाल वर्मा - 1950) से आंचलिकता का रंग अधिक विश्वसनीय है।

वृंदावनलाल वर्मा के समूचे साहित्य में उनके युग के सांस्कृतिक और राष्ट्रीय परिवेश की धड़कनें सुनाई देती हैं। उनकी रचनाओं में बुंदेलखंडी परिवेश के आधिक्य के पीछे प्रादेशिक ममत्व और देश-प्रेम की भावना की प्रधानता है। एक तरह से स्थानीय रंग, त्याग और बलिदान जैसे उदात्त भावों के उद्दीपन बनकर आए हैं। मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद (नाटक) और वर्मा जी के ऐतिहासिक उपन्यासों की मूल प्रेरणा एक ही है — इतिहास के गौरव गान से राष्ट्रीयता का भाव पैदा करना। वर्मा जी के उपन्यासों के फलक बड़े हैं और वे विशिष्ट उद्देश्य को लेकर चले हैं[1]।

---

1. डा. बच्चीधर, पृष्ठ-33

कमोबेश यही बात नागार्जुन के बारे में भी कही जा सकती है। हालांकि उनमें आंचलिक रंग (स्थानीय बोली, रीति-रिवाज, खान-पान) अधिक गहरा है। उनकी प्रतिबद्ध दृष्टि आंचलिकता को प्राय: सीमित करती है। वैसे ग्रामीण समस्याओं में नागार्जुन की पैठ गहरी होती है।

हकीकत यह है कि 'रेणु' के पूर्ववर्ती उपन्यासकारों में अंचल के प्रति लगाव गहराता गया है — विशेष कर शिवपूजन सहाय से लेकर नागार्जुन तक। 'देहाती दुनिया' में यह शिल्प के स्तर पर भी मुखर है। लेकिन 'आंचलिक उपन्यास' जैसी स्वतंत्र विधा का हिन्दी में जन्म और स्वीकार 'मैला आंचल' (1954) के प्रकाशन के बाद ही हुआ है।

जहां तक भारतीय प्रभावों और प्रेरणाओं का सवाल है, प्रगतिशील आंदोलन ने ग्राम्य यथार्थ और लोक-सान्निध्य के लिए लेखकों में गहरी ललक पैदा की जो स्वातंत्र्योत्तर काल में हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों के विकास का एक बहुत बड़ा कारण बनी।

एक सवाल उठता है कि आंचलिक उपन्यास की अभिनव शैली की क्या जरूरत पड़ी ? इसका सामाजिक पक्ष क्या है ?

समाज में विभिन्न वर्गों के आपसी संबंध बहुत हद तक उसके परिवेश पर निर्भर करते हैं। इसलिए इन वर्गों के अन्तर्विरोधों और उनकी आकांक्षाओं को चित्रित करने के लिए पूरे अंचल को ध्यान में रखना आवश्यक है। विशेष कर बहुसंरचनात्मक सामाजिक-आर्थिक ढांचा, प्राचीन विचारों और रूढ़ सामाजिक संस्थाओं के बचे अंश, पुरातन-परंपरागत संबंधों के विशाल क्षेत्र

---

1. डा. बंशीधर, पृष्ठ-35

तथा इन सबसे टक्कर लेते आधुनिक मूल्यों से निर्मित समकालीनता की अभिव्यक्ति के लिए आंचलिक उपन्यास की बहुसंरचनात्मक शैली का उपयोग आवश्यक हो जाता है ।

'देहाती दुनिया' के लेखक का क्षितिज इतना बहुआयामी तो नहीं है, लेकिन रचना के केंद्र में भोजपुर जनपद का एक गांव है और उसी के यथार्थ को पकड़ने की उपन्यासकार ने कोशिश की है और उसकी अभिव्यक्ति में लोकभाषा की विविध भंगिमाओं का पूरा सहारा लिया है । साथ ही अपनी लोक चेतना का परिचय देते हुए नायक की परंपरागत अवधारणा को तोड़ा है । पूरे गांव की आबादी को ही अपना पात्र बनाने की कोशिश की है । यह पहले के उपन्यासों से एक प्रस्थान बिंदु का सूचक है जो 'देहाती दुनिया' को ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है ।

-0-

अध्याय - पांच

"देहाती दुनिया" का शिल्प और भाषिक संरचना

अध्याय पांच

'देहाती दुनिया': शिल्प तथा भाषिक संरचना

उपन्यास के शिल्प का मतलब रचना-संसार की बुनावट में निहित कौशल है। यानी अभिव्यक्ति की पद्धति। इसके बाह्य रूप का संबंध उपन्यास के वस्तु संगठन से और आंतरिक का रचनाकार की दृष्टि से होता है।

शिल्प का चयन उपन्यासकार प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप करता है। "देहाती दुनिया" इस दृष्टि से कथा-शिल्प के परंपरागत ढांचे को तोड़ता है क्योंकि उसमें कोई नायक नहीं है, न ही कोई नायिका। किसी चरित्र को केन्द्र में रखकर उपन्यास की कथा नहीं कही गई है। कोई एक कथा है भी नहीं। बहुत सारी कथाएँ समानांतर रूप से विकसित होती हैं।

लेखकीय दृष्टि के केन्द्र में भोजपुर जनपद का एक गांव है - "रामसहर"। उसकी पूरी आबादी को उपन्यासकार वहाँ की जनपदीय

विशेषताओं में पकड़ने का प्रयास करता है । इसलिए छोटे-छोटे पात्र भी अपनी भंगिमा में महत्वपूर्ण हो उठते हैं । जमींदार रामटहल सिंह हों या खेदू कहार, कथाकार के लिए वे अपना विशेष महत्व रखते हैं ।

"देहाती दुनिया" पर अक्सर यह आरोप लगाया जाता है कि उसका कथानक सुगठित नहीं है । लेकिन यही तो उसकी विशेषता है । किसी व्यक्ति चरित्र या उसके माध्यम से समस्या विशेष को उठाने के बजाये लेखक पूरे अंचल को उसकी विशेषताओं में उभारना चाहता है ।

लेखक ने इसमें आत्मकथात्मक, विवरणात्मक और फोटोग्राफिक तीनों शैलियों का प्रयोग किया है । उपन्यास की शुरूआत आत्मकथात्मक शैली में होती है -

"जहाँ लड़कों का संग, तहाँ बाजे मृदंग
जहाँ बुड्ढों का संग, तहाँ खरचे का तंग"

हमारे पिता तड़के उठकर, निबट-नहाकर पूजा करने बैठ जाते थे । माता से केवल दूध पीने का नाता था । ..... हमारे लिलार में भभूत खूब खुलती थी । सिर में लम्बी-लम्बी जटाएं थीं । इस प्रकार उपन्यासकार हमें गांव के एक बच्चे की मानसिकता में प्रविष्ट करा देता है । लेकिन इस शैली का उपयोग लेखक ने कम ही किया है । ज्यादातर उपयोग फोटोग्राफिक शैली का हुआ है । वह एक फोटोग्राफर की तरह रामसहर और अन्य गाँवों का एक-के-बाद-एक "स्नैप शॉट" प्रस्तुत करता चलता है -

"चैत का महीना था । गोधूली वेला थी । गोपाल, केदार और हम रामसहर के "पंचमदिल" के ऊँचे चबूतरे पर बैठे हुए थे । रसे-रसे हवा डोलती थी । ..... पीपल, पाकड़ और नीम के लहलहे दूसे बड़े सुहावने देख पड़ते थे ।

गांव के रेख-उठान छोकड़े घर लौटती हुए गौओं के पीछे-पीछे, कंधे पर लाठी लिए, कान पर अंगुली दिए, पिहकते चले जाते थे । एक तरफ कोई तान लड़ता था -

अहो राम-ठूठी रे पकड़िया
सीतल जुड़ि छहियाँ-ए-रामा !

दूसरी तरफ कोई लहर लेता था -

सइयां निरमोहिया रे, अजहूं न आए हो रामा ।[1]

प्रत्यक्ष रूप से इन चित्रों में कोई अन्विति नहीं दिखाई पड़ती और कथा बिखरी मालूम होती है । लेकिन इसके पीछे रचनाकार की सुचिंतित दृष्टि होती है जिसका उद्देश्य है पूरे अंचल को उसके सामाजिक सांस्कृतिक-भौगोलिक परिवेश में प्रस्तुती है । यही विजन कथानक को एक सूत्र में बांधता है ।

---

1. देहाती दुनिया, पृ॰- 136-37.

"देहाती दुनिया" के हर अध्याय की शुरूआत एक लोकोक्ति या कहावत से होती है । कहीं-कहीं तो इससे पूरे अध्याय के मर्म का संकेत हो जाता है, तो कहीं-कहीं सिर्फ लोक मानस की छंदप्रियता का अहसास होता है ।

9वें अध्याय "महंगे चने" की शुरूआत यूं होती है -

"करधा छोड़ तमासे जाय
नाहक चोट जुलाहे खाय ।"

रामसहर में दारोगा जी आए हैं । किसी मामले की छानबीन के सिलसिले में । जो मामले से संबद्ध नहीं भी है उन्हें दारोगा जी की मुट्ठियां गर्म करनी पड़ रही हैं । डांट-फटकार होती है, सो अलग । इस प्रकार "महंगे चने" के कथ्य का संकेत "नाहक चोट जुलाहा खाय" से मिल जाता है ।

आंचलिक उपन्यासों में भाषा का एक सर्वथा नवीन रूप देखने को मिलता है । अंचल के जीवन को उसकी स्थानीयता में उभारने के लिए लोकभाषा का उपयोग जरूरी हो जाता है । इस भाषा रूप में वहां की लोकोक्तियों, कहावतों, मुहावरों, ध्वनियों और शब्दों में निहित अर्थ छवियों के प्रयोग शामिल हैं । रामसहर के पशुपति पांडे स्तुती करते हैं -

"नीलाम्भुजं सामल कोमलागं सीता संवारोपितु बामभाग्यं ।
पाण्डव महासायक चार चापं नमामि रामं रघुबंस नाथम् ।।"[1]

---

1. देहाती दुनिया, पृ.-24, 1981.

संस्कृत का "नीलाम्बुज", "रामभाषाम्", "रघुवंश" आदि पशुपति पांडेय के यहाँ आकर पूरी तरह रामसहर के रंग में ढल जाते हैं। पांडेय जी संस्कृत को "सांसकिरित" कहते हैं। वैसे वे सभी वेद-पुराणों के जानकार माने जाते हैं।

"देहाती दुनिया" में भाषा के दो स्तर हैं। पहले का प्रयोग पात्रों के संवादों, कथोपकथन आदि में किया जाता है। दूसरे का उपयोग उपन्यासकार करता है। कथाकार द्वारा प्रयुक्त भाषा का आंचलिक टंग पात्रों की भाषा की तुलना में थोड़ा हल्का होता है। भाषा का "टोन" या लहजा आंचलिक हो सकता है, पर जरूरी नहीं है कि उसका शब्द-शब्द आंचलिक हो - "हम लोग बेतहाशा भाग चले। कोई औंधा गिरा, कोई अंटाचित। "मइया चापल अमनिया कर रही थी।" "बैद-हकीमों के पांव पूजो, प्रसाद चढ़ाओ।" "इस बात की डाह पैदा हो गई कि बैजू अकेले शिकार कैसे खाएगा।" - इनमें अंटाचित, अमनिया, प्रसादी, डाह ठेठ भोजपुरी के शब्द हैं।

गांव में लोग मुहावरों का खूब प्रयोग करते हैं। वहाँ के जीवन को आत्मीयता में पकड़ने के लिए लेखक ने इनका जमकर उपयोग किया है - आंख में घरबी छाना (89), उमर राम-राम, भीतर सिद्ध काम (99), मुफ्त की गंगा, हराम का गोता (11), खाने-खराब, गदहे सवार आदि।

इस प्रकार "देहाती दुनिया" में नायक की परंपरा को तोड़ता हुआ एक नए किस्म का कथानक उभरता है जिसके केन्द्र में पूरे रामसहर गांव का जीवन है । गांव को अंतरंगता में चित्रित करने के लिए लेखक ने स्थानीय भाषा का उसकी भंगिमाओं और अर्थ छवियों, ध्वनियों में सहारा लिया है । उसके बिना अंचल के सांस्कृतिक जीवन की विश्वसनीय प्रस्तुती असंभव थी ।

उपसंहार

उपसंहार

"देहाती दुनिया" में भोजपुर जनपद के एक गांव "रामसहर" का यथार्थवादी चित्रण हुआ है । गांव के विभिन्न तबकों जमींदार, पुरोहित, मज़दूर और पुलिस के आतंक सामाजिक तथ्य बनकर उभरे हैं । लेकिन इन वर्गों के अंतर्विरोधों और ग्रामीण जीवन की विसंगतियों को गहराई में उतरकर समझने की कोशिश नहीं की गई । समाज का दस्तावेजी पक्ष ही अधिक उभरा है ।

लेकिन इसके बावजूद यह उपन्यास गंभीर उपन्यासों के लिए पाठकों को तैयार करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है । "खत्री" और "गहमरी" के उपन्यासों की प्रतीकात्मक शैली को तोड़कर नितांत गैर-रोमांटिक ढंग से रामसहर की कथा कही गई है । वास्तविक समस्याओं का वायवीय हल नहीं प्रस्तुत किया गया है । उपन्यास रचना के मूल में देहाती पाठकों की रूचि है । मनोरंजन के लबादे में देहाती जीवन के यथार्थ को चित्रित किया गया है ।

"देहाती दुनिया" पहली बार कथानक के परंपरागत ढांचे को तोड़ता है और पूरा अंचल ही कथा का नायक बन जाता है ।

लोगों की वेशभूषा, खान-पान, परम्पराओं, अंधविश्वासों, छंदोप्रियता आदि का बहुत आत्मीयता पूर्वक वर्णन किया गया है। इसके बावजूद यह उपन्यास ग्रामीण अधिक है, आंचलिक कम। क्योंकि पात्रों की जनपदीय स्वभावगत मुख्य विशेषताओं को लेकर उन्हें किसी विशेष स्थान से संबद्ध नहीं किया गया है। माता का बेटे के प्रति प्रेम, जमींदार का अत्याचार, निम्न जाति की औरतों का शारीरिक शोषण, दारोगा के आतंक आदि को देहात के किसी कोने से जोड़ा जा सकता है। उपन्यास के पात्र सिर्फ भोजपुर जनपद के नहीं लगते। ठीक उसी प्रकार जैसे प्रेमचंद के पात्र अवध अंचल के होते हुए भी ग्रामीण अधिक लगते हैं।

उसके विरीत "मैला आंचल" के सारे पात्र अपनी गतिविधियों में सिर्फ पूर्णिया के लगते हैं। उन्हें किसी और अंचल से नहीं संबद्ध किया जा सकता।

लेकिन इतना कहा जा सकता है कि पूरे तौर पर आंचलिक उपन्यास नहीं होते हुए भी "देहाती दुनिया" निहित संभावनाओं को लेकर एक महत्वपूर्ण उपन्यास है।[1]

शिल्प और कथ्य दोनों के दृष्टकोण से इसने "मैला आंचल", "परती परीकथा" जैसे उपन्यासों के लिए भूमिका-निर्माण का काम किया है।

---

1. शिवपूजन सहाय का कथा साहित्य (शोध प्रबंध - रमण प्रसाद सिन्हा), 1985, पृ.-103.

पूरे उपन्यास में स्वाधीनता आंदोलन का कहीं भी जिक्र नहीं है । औपनिवेशिक शोषण पर चलताउ ढंग से एक पात्र सूत्र रूप में गाँव-गाँव में रेल यातायात के दुष्प्रभावों की चर्चा करता है । यह बिल्कुल पैबंद की तरह लगता है ।

अपने समय के वैचारिक आंदोलनों से जुड़ा उपन्यासकार अपनी रचना में गांधीवाद और आर्य समाज के प्रभावों से साफ बचकर निकल गया है । लेकिन किसी भी रूप में स्वाधीनता संग्राम को उपन्यास में नहीं लेना और गांव के यथार्थ का चित्रण करते वक्त किसानों के परत-दर-परत शोषण को अनदेखा करना "देहाती दुनिया" को कमजोर करता है ।

- 0 -

सहायक ग्रंथों की सूची

सहायक ग्रन्थों की सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,
काशी नागरी प्रचारिणी सभा,
बनारस, 1981.

2. कामायनी : एक पुनर्विचार : मुक्तिबोध,
राजकमल प्रकाशन,
दिल्ली, 1981.

3. साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका : डॉ. मैनेजर पाण्डेय
हरियाणा साहित्य अकादमी,
चंडीगढ़, 1990.

4. उपन्यास के पक्ष (अनु.) : ई.एम. फार्स्टर,
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
जयपुर, 1982.

5. साहित्य का समाजशास्त्रीय चिंतन : (स.)- प्रो. निर्मला जैन
हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन
निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली, 1986.

6. उपन्यास और लोक जीवन (अनु.) : रैल्फ फाक्स
पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस,
दिल्ली, 1980.

7.	मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन	:	डॉ. शिवकुमार मिश्र मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1973.
8.	मेरा जीवन	:	आचार्य शिवपूजन सहाय पारिजात प्रकाशन, पटना, 1985.
9.	हिन्दी के आंचलिक उपन्यास: सिद्धांत और समीक्षा	:	डॉ. बंशीधर, भाषा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1983.
10.	आंचलिकता की कला और साहित्य	:	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र, प्राची प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989.
11.	हिन्दी उपन्यासों में लोक तत्व (प्रथम खण्ड)	:	डॉ. इंदिरा जोशी, सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, इलाहाबाद, 1965.
12.	हिन्दी उपन्यासों में आंचलिकता की प्रवृत्ति	:	डॉ. एच.के. कडवे, अन्नपूर्णा प्रकाशन, कानपुर.
13.	हिन्दी उपन्यास : सिद्धांत और समीक्षा	:	डॉ. मक्खनलाल शर्मा, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1965.

14. हिन्दी उपन्यास कोश : डॉ. गोपाल राय, ग्रंथ निकेतन, पटना, 1984.

15. हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा : डॉ. रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

16. हिन्दी उपन्यास : समाजशास्त्रीय अध्ययन : डॉ. चंडीप्रसाद जोशी, अनुसंधान प्रकाशन, आचार्यनगर, कानपुर, 1962.

17. हिन्दी उपन्यास साहित्य का अध्ययन : डॉ. गणेशन, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1962.

18. हिन्दी के आंचलिक उपन्यास : प्रकाश वाजपेयी, नंद किशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, 1964.

19. अंग्रेजी उपन्यास का विकास और उसकी रचना पद्धति : श्रीनारायण मिश्र, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1961.

20. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद : डॉ. त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी.

21. आज का हिन्दी उपन्यास : डॉ. इन्द्रनाथ मदान, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली-6, 1966.

22. उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा : डॉ. शशिभूषण सिंहल, विनोद पुस्तक मन्दिर, अस्पताल रोड, आगरा, 1960.

23. प्रेमचंद पूर्व उपन्यास : डॉ. कैलाश प्रकाश, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, 1962.

24. फणीश्वरनाथ रेणु की उपन्यास कला : कुसुम सोफ्ट, वसुमती, 38 जीरो रोड, इलाहाबाद, 1968.

25. विवेक के रंग : (सं.) डा. देवीशंकर अवस्थी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन.

26. हिन्दी उपन्यास : डॉ. रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1968.

27. हिन्दी उपन्यास : सुषमा धवन, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1961.

28. हिन्दी उपन्यास : उद्भव और विकास : डॉ. सुरेश सिन्हा, अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली, 1965.

29. हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण : डॉ. महेंद्र चतुर्वेदी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962.

30. हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास : डॉ. प्रतापनारायण टंडन, हिन्दी साहित्य भंडार, गंगाप्रसाद रोड, लखनऊ, 1964.

31. द राइज ऑफ द नावल : इआन वाट, पेलिकन प्रकाशन, लंदन, 1972.

32. द थ्योरी ऑफ द नॉवल : जार्ज लूकाच, मर्लिन प्रेस, लंदन, 1978.

33. द सोस्योलॉजी ऑफ लिटरेचर : डायना लारेंसन और एलान स्विंगवुड, मैकगिब्बन एंड की, लंदन, 1972.

34. हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न क्रिटिसिज्म, भाग-4, : रेने वेलेक, जोनायन केप, लंदन, 1966.

35. कल्चर एंड सोसायटी : रेमंड विलियम्स, चाटो एंड विन्ड्स, लंदन, 1958.

36. सोस्योलॉजी ऑफ इंडियन लिटरेचर, : सुलोचना रांगेय राघव,

37. लिटरेचर एंड सोसायटी : आर. होगार्ट, वीडनफेल्ड एंड निकलसन, लंदन, 1966.

38. लिटरेचर एंड आर्ट : मार्क्स तथा एंगेल्स, इंटरनेशनल पब्लिशर्स, न्यूयार्क, 1947.

39. इंट्रोडक्शन टु ए क्रिटीक ऑफ पालिटिकल इकॉनामी : मार्क्स, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, मास्को, 1989.

40. आर्ट एंड सोशल लाइफ : प्लेखानोव, लारेंस एंड विशार्ट, लंदन, 1953.

41. द हिस्टारिकल नावल : जार्ज लूकाच, मर्लिन प्रेस, लंदन, 1962.

42. टुवर्डस द सोसियोलॉजी ऑफ द नॉवल : ल्यूसिए गोल्डमान, लंदन, 1976.

43. कल्चर : रेमंड विलियम्स, फोंटाना, लंदन, 1981.

44. पिक्शंस : एम. जेराफा, पेंग्विन बुक्स, 1976.

45. सोसियोलॉजी ऑफ लिटरेचर : जॉन हाल, लौंगमैन, लंदन, 1976.

46. लिटरेचर, पापुलर कल्चर एंड सोसायटी : एल. लोवंथल, न्यू जर्सी, 1961.

47. ऑन लिटरेचर : मैक्सिम गोर्की, फारेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, 1975.

48. स्टडीज इन यूरोपियन रियलिज्म : जार्ज लूकाच, हिलवे पब्लिशिंग, लंदन, 1950.

शोध प्रबंध

49. शिवपूजन सहाय का कथा साहित्य (एम.फिल. का शोध प्रबंध) : रमण प्रसाद सिन्हा,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली-110067,
1985.

- 0 -